



२१२

No-057656

20-43.15

# तीर्थकर

दिसम्बर १९८८

वर्ष १८

अंक ८

## चंचलता - चुनौती (६)

‘चंचल’ शब्द संस्कृत की ‘चञ्च्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है हिलना, कांपना, थरथराना, एक-सा न रहना, अस्थिर होना । लक्ष्मी को चंचला कहा गया है । बीजुरी को भी चपला/चंचला कहा गया है । चंचल जो होता है, उसमें पकड़ नहीं होती । न वह पकड़ सकता है, न उसे पकड़ा जा सकता है । वह होता भर है, वस्तुतः उसका होना न होना बराबर ही समझिये ।

चंचल चित्त अनिश्चय और संदेह के हिंडोले में झूलता रहता है, अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाता । लहरों पर भला कोई मकान बना सकता है? लहर पलक-भर है, पलक-भर नहीं है । इसी तरह मरुथल है । उसकी रेत पर लहरें उठती हैं । रेत के टीले : आज यहाँ, कल वहाँ; उनका अपना डेरा-बसेरा नहीं होता । रेत पर भला अपना तम्बू कोई लगाता है? चंचलता में फिसलन है । वहाँ पाँव टेकना मुश्किल है । काई पर भला कोई अपनी पगतली मजबूती से कैसे रोप पायेगा ?

जिस तरह नदी-तालाब के तट पर फिसलन बनी रहती है, ठीक वैसे ही मन-के-धरातल पर भी चीकट होती है, जिस पर पाँव टेकना कठिन होता है । वहाँ लोम-लालच-की-अपरंपार चिक्कणता बनी होती है अतः चेतना के पग नहीं टिक पाते ।

हम एक पल कुछ सोचते हैं, दूसरे पल कुछ । जब हम निश्चित नहीं कर पाते अपना लक्ष्य/अपना निशाना, तब हम भटकने लगते हैं और न घर के रह पाते हैं न घाट के । तब ऐसी चलाचली में हमें न माया मिलती है, न राम । मुट्ठी खाली-की-खाली रह जाती है ।

अंग्रेजी की एक कहावत है : ‘रोलिंग स्टोन गेदर्स नो मास’ । जो लुढ़क रहा है, उसे कभी कुछ नहीं मिलता । जो व्यापारी तुरत-तुरत अपने फँसले बदलता है, उसकी साख भला क्यों कर जमेगी ?

निश्चय जहाँ है वहाँ कल्पवृक्ष है, और अनिश्चय जहाँ है वहाँ बंजड़ है । सच पूछिये तो अनिश्चय से बड़ी कोई विपदा नहीं है । हममें से ज्यादातर लोग अनिश्चय की लपेट में रहते हैं । एक पल कुछ, दूसरे पल कुछ । विकल्पग्रस्त होने के कारण हमारा चित्त स्वस्थ और सुस्थिर नहीं रह पाता और हम आँधी में पड़े तिनके की तरह भटकने लगते हैं ।

जिसका कोई लक्ष्य नहीं है, वह चलता भले ही जाए; किन्तु उसका चलना

# सिद्धिचर

विचार-मासिक

सद्धिचर की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

वर्ष १८; अंक ८; दिसम्बर १९८८  
मार्गशीर्ष वि. स. २०४५; बी. ति. सं. २५१५

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन  
प्रबन्ध-संपादक : प्रेमचन्द जैन  
चित्र-संपादक : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन  
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,  
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये  
प्रस्तुत अंक : तीन रुपये  
आजीवन : तीन सौ रुपये  
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटर, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

## कथा / कहीं

चुनौतियाँ - चचलता/चुनौती (६)

-प्रलयंकर आव. २

जीर्णोद्धार : पहले किसका ?

-संपादकीय ३

साब ! हिसाब !! (आत्मावलोकन)

-नेमीचन्द ५

जैनधर्म और साम्प्रदायिक सद्भाव

-डॉ. निजामउद्दीन ११

तुमने देखा होगा— (कविता)

-डॉ. रघुनन्दन चिले १६

प्रकाश : सजीव या निर्जीव ?

-मुनि नंदीघोष विजय १७

जन-जन की आस्था से/यि स्वयं टेर लेते हैं (कविताएँ)

-दिनकर सोनवलकर २५

महासत्ता में मृत्यु का अस्तित्व नहीं (वीरेन्द्रकुमार जैन के उपन्यास 'अनुत्तर योगी :

तीर्थंकर महावीर' के अप्रकाशित पाँचवें खण्ड का प्रथम अध्याय) २६

क्या हम इन हादसों की अनदेखी करें ? (खत : जो मिला अभी-अभी)

प्रलयंकर ३४

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) ३७

पत्र-पत्रांश ४१

समाचार-परिशिष्ट ४३

प्रेत के दिए : रेत के टीले आव. ४

आवरण-चित्र/खन्दारगिरि (मध्यप्रदेश) की वह विशाल प्रतिमा जिस पर अब घास-फूस उग आयी है/विश्वास जैन



## जीर्णोद्धार : पहले किसका ?

चँदेरी मध्यप्रदेश का एक मनोज्ञ जैन तीर्थ है। यहाँ की चौबीसी (चौबीस तीर्थकरों का प्रतिमा-गुच्छ) विश्व-विख्यात है। इसके नजदीक खन्दारगिरि है। यह गुफाओं के लिए मशहूर है। यहाँ कई प्रतिमाएँ हैं। बाहुबली की भी एक अद्भुत-अपूर्व प्रतिमा है। जैसे ही पहाड़ चढ़ते हैं, एक खड्गासनी प्रतिमा मिलती है। संभवतः यह मूल नायक की प्रतिमा है। बहुत सुन्दर, अत्यन्त नयनाभिराम; किन्तु जीर्ण-शीर्ण (आवरण-पृष्ठ पर इसी का चित्र है)। सिर, कपोल, स्कन्ध, वक्ष तमाम पर पहाड़ी घास उग आयी है। दरारें पड़ गयी हैं। फिर भी वीतरागता इधर से, उधर से कौंध जाती है। तीर्थकर की तपःसाधना की दीप्ति-कोर यहाँ-से-वहाँ-तक मन को छू जाती है। लगता है इस जर्जर-जीर्ण प्रतिमा के आगे नतमस्तक/निर्निमेष बैठे रहो और इसकी शिकायतें सुनो।

इसके पास ही दायीं ओर एक प्रतिमा-विवर है। प्रतिमा वहाँ अब नहीं है; किन्तु लगता है, है। खालीपन दीख पड़ता है। प्रतीत होता है कि या तो कोई इस शिलोत्कीर्ण प्रतिमा को सफाई से निकाल ले गया है, या फिर समय-की-मार से वह छिन्न-भिन्न हो गयी है। वहाँ अब शून्य है, प्रतिमा नहीं है। इस विवर को देख कर भी लगता है कि यह कलाकृति कभी अद्भुत-अपूर्व रही होगी।

इन दोनों प्रतिमाओं से मन को असीम पीड़ा होती है, इसलिए नहीं कि हम अपनी प्राचीन कला-धरोहर को सुरक्षित नहीं रख पाये हैं बल्कि इसलिए कि जब

हम इनकी/इनके भग्नावशेषों की तुलना समाज-के-भग्नावशेषों से करते हैं तब तन-मन में एक अजीब सन्नाटा छा जाता है ।

पहली प्रतिमा को देख कर लगता है कि जैसे समाज में भी कई दरारें पड़ गयी हैं और लोग अपना-अपना राग अलाप रहे हैं । जिसे जो सूझ पड़ रहा है, वह वैसा कर रहा है । किसी के पास कोई सुनियोजित प्रोग्रम नहीं है । संतुष्टों की राह अलग है, असंतुष्टों की अलग । संतुष्ट असंतुष्टों की पीड़ा समझने को तैयार नहीं हैं, और असंतुष्ट संतुष्टों का रहस्य जान पाने की स्थिति में नहीं हैं । समाज-के-जर्जर शरीर पर विकृतियों की घास-फूस उग आयी है और इस तरह उसका विकासोन्मुख रूप दब गया है । लगता है : जो कल था वह आज नहीं है । और जो आज है वह कल बच रहेगा या नहीं इसका कोई भरोसा नहीं है ।

पहली प्रतिमा से जब समाज के हालातों का मिलान करते हैं, तब लगता है कि समाज की उदारता, उसकी सहिष्णुता, और मर्यादाएँ नष्ट हो गयी हैं । लोग एक-दूसरे को समझ नहीं पा रहे हैं । जहाँ जिसे जिस तरह का सुराख मिल रहा है, वहाँ वह अपने पाँव जमा रहा है । चारों ओर एक तरह की अराजकता है । जिस स्वस्थ सामाजिक समझ की अपेक्षा थी, वह लुप्त-ध्वस्त है और निकट भविष्य में उसके पुनर्जन्म की कोई संभावना नहीं है । समाज में अधिकांश वे लोग हैं, जिन्होंने अपनी झूठी शान जमा रखी है । जिनका 'शब्द' और 'चरित्र' अलग है । जो कह कुछ और कर कुछ रहे हैं । दोगलेपन की यह संस्कृति समाज को उस हालत में ले आयी है जिस हालत में खन्दारगिरि की यह प्रतिमा है ।

खन्दारगिरि का सीधा अर्थ उस पर्वतभाग से भी लिया जा सकता है, जो खण्डहर हुआ है । समाज भी लगभग इसी तरह कुछ हो गया है । प्रामाणिकता और नैतिकता दोनों ही अब सिर्फ शास्त्रगत हैं, आचरणगत नहीं हैं । ज्यादातर लोग या तो पुरातत्त्व के गीत गा रहे हैं, या दार्शनिक चर्चा कर रहे हैं । यह पलायन है । आचार और आहार के बारे में अनावश्यक चुप्पी साधना स्वयं को एक अन्धी खाई में धकेलने के अलावा कुछ नहीं है । जो लोग बड़े खान-दान के हैं (थे), उन्होंने स्वयं को आम आदमी से काट लिया है । आम आदमी का व्यक्तित्व—उसकी अस्मिता संकट में है । वह बड़ों के पदचिह्नों पर सिर्फ इसलिए है कि अभी उसे उनमें आशा की एक किरण दीख पड़ रही है । वह अभी भी बड़ों-को बड़ों-जैसा सलूक और सम्मान बख्श रहा है; किन्तु यह सत्य है कि उसके साथ यह सुन्दर छल अब अधिक समय तक चल नहीं पायेगा । उसके व्यक्तित्व के साथ जो सामाजिक धोखा इस क्षण घटित है, वह पीड़ादायी है । अब उसकी उम्र खत्म ही समझिये ।

(शेष पृष्ठ १० पर)

## साब ! हिसाब !!

उस दिन मैंने अपने एक वरिष्ठ हिताधी को फोन किया।  
इत्फाकन् उसे उनके किसी भृत्य ने उठा लिया। बोला— 'कहिये, किससे  
काम है? क्या काम है?' मैंने कहा— 'उन्से'।  
'साब से'— उसने तपाक से उत्तर दिया। मैंने अपने सहज लहजे में कहा—  
'हाँ, साब से'।  
'साब नहीं हैं'।  
'कहाँ गये हैं?'  
'मीटिंग में'— उत्तर मिला।

मुझे थोड़ी झुंझलाहट हुई; तुरन्त बोला— 'उनकी मीटिंगों का कोई हिसाब है?'  
'मैं नहीं जानता। आप साब से ही बात करें। वैसे साब, उनकी मीटिंगों का  
कोई हिसाब नहीं है। रोज ही कोई-न-कोई होती है।'

लगा मुझे कि नौकर ने जो जवाब दिया है, वह मुझ पर भी लागू पड़ता है।  
हिसाब तो मुझे भी खुद से लेना चाहिये। हर आदमी को अपने पल-पल का,  
अपने शब्द-शब्द का हिसाब रखना चाहिये।

मुझे याद पड़ा कि मैंने बहुत पहले कुछ विशेषांकों की घोषणा की थी और  
फिर किन्हीं लाचारियों के कारण उन्हें प्रकाश में नहीं ला सका। मैंने गिलहरी  
की तस्वीर छापते हुए 'खत लिखे गिलहरी ने' की खत-सीरीज का ऐलान किया  
था; किन्तु विवशताएँ पर्त-दर-पर्त इस तरह कुछ आयीं कि उसे भी  
प्रकाशित नहीं कर सका।

अभी कुछ दिनों पहले जोधपुर के मित्र श्री अर्जुनराज मैहता के दो बहुत अच्छे खत  
मिले हैं (कार्ड/१.१०-अन्तर्देशीय/८.११)। ये दोनों अच्छे इस मायने में  
हैं कि इन्होंने मुझे जगाया है और जहाँ-जहाँ मैं अपना वचन चूक गया हूँ, वहाँ-  
वहाँ रेखांकित किया है। ऐसे खत बहुत कम ही मिलते हैं। इन्हें मैं बेशकीमती  
खत मानता हूँ। इरादे मैं बहुत करता हूँ; किन्तु इनमें-से बमुश्किल दस प्रतिशत  
पूरे कर पाता हूँ— बाकी भाफ बन कर बादल बन जाते हैं; कभी-न-कभी  
बरसने का वचन दे कर।

मैंने वर्ष १३, अंक १, मई १९८३, आव. २ पर अपने पाठकों को 'चातुर्मास विशेषांक' देने का वायदा किया था; किन्तु किन्हीं कारणों से विशेषांक की जगह 'अंक' आया (अक्टूबर १९८३/चातुर्मास अंक)। 'विशेषांक' न निकाल पाने का सबसे बड़ा कारण बनी चातुर्मासों-की-खुली-समीक्षा। मन में एक द्रव्य सुलगता रहा कि वैसा करूँ या न करूँ; क्योंकि समीक्षा करना आसान है; किन्तु बाद में उसमें-से प्रकट होने वाले नतीजों की लपटों को शान्त करना मुश्किल है। मैं सोचता रहा कि क्या मैं वह सब लिख डालूँ जो/जैसा देखता रहा हूँ? तब लगा कि निष्पक्ष/अनासक्त/हू-ब-हू लिख देने पर बगावत बनेगी और समाज विघटित होगा। चातुर्मासों में (सबमें नहीं) जो कुछ होता है उसका वस्तुनिष्ठ व्यौरा यदि कोई ले या दे तो वह खीझ, खुन्स, अफसोस और अपराध से भर उठेगा। कितना खर्च होता है इन पर! है कोई हिसाब? इतने सब-सारे से तो पूरी दुनिया में (न सही पूरी दुनिया, पूरे मुल्क में) अहिंसा की गिरती साख को बचाया जा सकता है; शाकाहार और करुणा के उखड़ते पाँव जमाये जा सकते हैं; किन्तु इसकी चिन्ता किसी को कहां है? अहिंसा का सिर्फ जयघोष है; वह दिनोंदिन धराशायी है इसकी फिक्र किसे है—चिन्ता सिर्फ ठाठबाट से चातुर्मास कराने की है—प्रतिद्वन्द्विता की है। श्रावक नहीं जानता कि वह 'क्या कर रहा है' और 'क्यों कर रहा है'—यदि जाने तो वह अपने साधनों का इतना आपराधिक उपयोग शायद ही होने दे।

'विशेषांक' असल में इसलिए रुक गया; क्योंकि उसमें बेबाक कह देने पर कई-कई उलझनें खड़ी होतीं और कई पंथ दुश्मन बन बैठते (आज भी हैं)। कहा जा सकता है कि मैंने भय और आतंक के कारण सचाई को दबाया है—(यह 'तीर्थकर' का चरित्र नहीं है) किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। असल में किसी भी संपादक को एक हद तक रचनात्मक दृष्टि अपनानी होती है और लोहे को तब पीटना होता है जब वह खूब गर्म हो—ऐसा नहीं है कि उठे क्रदम पीछे लौटेंगे, वे ज़मीन की तलाश में हैं, अतः जल्दी ही आगे को उठेंगे। देखिये न एक जैन खानदान इस क्रदर नाराज है (सच कहने-लिखने पर) कि उसने ख़तो-ख़तूत लिखना ही बंद कर दिया है। कुछ ऐसा भी किया है जिसका बयान यहाँ उचित नहीं है। इतने पर भी 'तीर्थकर' ने वह सब कहा है जो सामाजिक हद में कहना उचित था। उतना कहने—करने से तो किसी संपादक को रोकना संभव ही नहीं है। 'तीर्थकर' आकार में छोटा हो सकता है; किन्तु वह सच कहने से रुके, यह असंभव है। दिगम्बर जैनों के ऐसे कई नेता हैं जो समाज का ध्यान रखे बगैर एक घिनौना खेल रहे हैं; किन्तु भोला-भाला श्रावक उन्हें सज्जन/दूध-में-नहाया देख रहा



है और उन्हें वह सम्मान दे रहा जिसके पात्र वे ख्वाब में भी नहीं हैं ।  
कुछ साधु नाराज हैं । वैसे साधुत्व और क्रोध का कोई वास्ता नहीं है; किन्तु  
सुना है उनकी खुन्स, बावजूद खुद-को-चुभने-वाले शिथिलाचार के, दिनोदिन  
बढ़ी ही है ।

कुछ साधुओं के शौक बढ़ गये हैं । उन्हें सबकुछ नफ़ीस चाहिये । किताब  
चाहे जैसी हो, महँगी चाहिये । खूबसूरत चाहिये । लेमिनेटेड चाहिये । हार्ड-  
बाइंडिंग वाली चाहिये; पैपरबैक से उनका काम नहीं चलता । पुस्तक का  
अंतरंग बया/कैसा है — इसकी चिन्ता उन्हें नहीं है; किन्तु प्रकाशन रंगीन  
हो; वैभवपूर्ण हो, रौब गालिब करने वाला हो — इस तरह के कड़े निर्देश  
उनके होते हैं । कई साधु 'आधुनिक' साबित होने के लिए इस तरह के  
प्रकाशन करवा रहे हैं । कई दिगम्बर साधुओं के महँगे-कपड़े-पहिने प्रकाशन  
आये हैं । दिगम्बर काव्य को तो दिगम्बर होना था; किन्तु बदकिस्मती  
से वैसा हुआ नहीं — उसे अधिक भड़कीले/निरर्थक वस्त्र पहना दिये गये ।  
क्या इस तरह के अन्तर्विरोध किसी संवेदनशील श्रावक की आँखों में नहीं  
चुभेंगे ? तय है कि यह सब साधु नहीं करवा रहे हैं, बल्कि कुछ ऐसे लोग करवा  
रहे हैं जो खुशामद को हथियार मानते हैं और उसके द्वारा साधुओं को  
वश में रखना चाहते हैं । संयोगवश वे अपनी इस चाल में सफल भी हुए हैं ।  
असल में साधुओं को, उनके इर्दगिर्द जो लोग हैं उनकी गहन छानबीन करनी  
चाहिये और उनके निमित्त जो भी हो रहा है उस पर कड़ा नियन्त्रण पाना  
चाहिये । इतना ध्यान तो वे रखें ही कि 'प्रकाशन हो' किन्तु 'प्रकाश न  
हो' ऐसा क्यों हो ?

निलम्बित 'चातुर्मास विशेषांक' जल्दी ही प्रकाशित होगा; किन्तु जब तक  
'तीर्थकर' का आईना इन चातुर्मासों में पूरी सजगता से घूम नहीं लेता और  
उसे जो हासिल हुआ है वह पुष्ट नहीं हो जाता तब तक कुछ हो यह  
मुमकिन नहीं है ।

अभी 'शाकाहार प्रसंग-१' के अन्तर्गत मैं लगभग दो हजार किलोमीटर की  
यात्रा से लौटा हूँ । बुन्देलखण्ड के गाँव अब भी वैसे हैं, जैसे होना चाहिये ।  
कुछ गाँवों में कुछ तरुण दिगम्बर साधुओं को देखा । वहाँ उनके वर्षावास थे ।  
उन्हें देख मन हर्षोल्लास में झूम उठा । कितनी दुर्द्धर्ष साधना है उनकी ? कोई  
आडम्बर नहीं । कोई दुराव नहीं । कोई प्रदर्शन नहीं । कोई अपव्यय  
नहीं । यदि कोई खचें है भी तो ग्रामीणों को जगाने के लिए । आहार

सीमित । लौकी, उड़द, रोटी । गजब है । ऐसा क्यों होता है कि एक ओर करोड़ों का खर्च है और नतीजा सिफर है और दूसरी ओर जहाँ खर्च सैकड़ों में है वहाँ फल आशातीत है ।

क्या हम इस विषमता की समीक्षा करना पसंद नहीं करेंगे ?

भाई मैहताजी, 'चातुर्मास विशेषांक' संपादित करते-करते पांच इसलिए रुक गये कि उसमें जहाँ एक ओर दिशादृष्टि और स्वरूपबोध होता वहीं दूसरी ओर चातुर्मासों-में-रेंग आयीं विकृतियों की खुली समीक्षा भी होती, अतः प्रामाणिकता को समृद्ध करने के लिए वह स्थगित है—स्थगित है, विचार अभी खत्म नहीं हुआ है । इंतजार करें वह सूर्योदय जल्दी ही होगा और जो सघन/निबिड़ अँधियारा चारों ओर छा गया है, वह दूर होगा । वस्तुतः चातुर्मासों के निर्मलीकरण की आवश्यकता से हम मुकर नहीं सकते— प्रायः एक ईमानदार/प्रबुद्ध साधु और श्रावक इसे महसूस करता है ।

एक पूर्वघोषित विशेषांक है 'जैन साहित्य विशेषांक' । पहले लगा था कि यह काम काफी निष्कण्ठक है—कर लूंगा; किन्तु बाद को अहसास हुआ कि इतने विपुल/व्यर्थाव्यर्थ साहित्य का समीक्षात्मक अहवाल आसान नहीं है— उसे आद्यन्त पढ़ना चाहिये और तब कोई कारगर टिप्पणी देनी चाहिये । इसके लिए एक टीम दरकार थी । मिली नहीं । हाथ अकेला बना रहा । तीन-तीन पत्र । फुर्सत एक लमहे को नहीं । क्या करता; अतः सहज ही चुप्पी पकड़ गया । दर्द हुआ : यह कि आज जैनों के पास विद्वान् कम हैं कम रह गये हैं । इन दिनों मैं 'समय/त्रैमासिक' का प्रकाशन कर रहा हूँ । दूसरा अंक मुद्रण में है; किन्तु लेखक नहीं हैं । रंगे हुए लेखक हैं; वस्तुन्मुख लेखक नहीं हैं । एक मित्र ने सुझाव दिया है कि यदि पारिश्रमिक की व्यवस्था हो तो अच्छे लेखक आगे आ सकते हैं; किन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हूँ । मेरा मानना है कि अच्छा लेखन पैसा नहीं करा सकता । मैं 'कामचलाऊ लेखन' और 'उत्तरदायी लेखन' के बीच फर्क करता हूँ; अतः मैंने उनका खत रख तो लिया है; किन्तु कोई जवाब नहीं दिया है । जो सूची मेरे पास है लेखकों की, वह उनके द्वारा प्रेषित सूची से भिन्न नहीं है । आज हमें नाथूराम प्रेमी/अयोध्याप्रसाद गोयलीय जैसे समर्पित लेखकों की जरूरत है । इस तरह 'जैन साहित्य विशेषांक' एक उपयुक्त टीम के अभाव में रुक गया—रुका है; कभी निकलेगा नहीं, ऐसा नहीं है । उसे प्रकाश में तो अन्ततः लाना ही है ।

‘तीर्थंकर’ प्रकाशित होता है; किन्तु न तो उसका चरित्र व्यावसायिक/वाणिज्यिक है और न ही वह किसी की भीख या दया पर प्रकाशित है। उसके अपने आदर्श और प्रतिमान हैं जिनके लिए वह प्रतिपल समर्पित है।

जनवरी १९८७ के अंक के अनुसार मई ८७/अप्रैल ८८ तक के अंकों में ‘गिलहरी ने लिखे खत’ पत्र-शृंखला प्रकाशित होनी थी। योजना थी। मुझे ही इसे लिखना था। पशुओं के साथ होने वाले क्रूर अत्याचारों पर उसे केन्द्रित किया था। सामग्री जुटा चुका था; किन्तु इस बीच ‘शाकाहार प्रकोष्ठ’ कायम हुआ और शक्ति बँट गयी। हाथ रुक गया। गिलहरी अभी जिन्दा है, मरी नहीं है। उसके खत-पर-खत हैं कि उसके पिछले खुत क्या हुए? कहीं संपादकजी ने उन्हें रद्दी की टोकरी में तो नहीं डाल दिया? उसके साथी-संगियों के पत्र भी आ रहे हैं; सहज ही, इस तरह मेरी जिम्मेवारी बढ़ गयी है। मुझे विश्वास है यह पत्र-माला जल्दी ही शुरू होगी। कई चुनौतियों के बावजूद मेरी कोशिश होगी कि लेख-माला बिना किसी अड़चन के छपे और पशु-पक्षियों के साथ होने वाले जुल्म बेनक्राब हों।

शिकायत है कि इस वर्ष अब तक कोई विशेषांक प्रकाशित नहीं हुआ है। वजह साफ है। मैंने विज्ञापन माँगना बंद कर दिया है। असर पड़ा है; किन्तु उपाय कर रहा हूँ। विज्ञापन अभी जारी हैं; किन्तु या तो वे सरकारी हैं या उन लोगों से हैं जो बिना किसी अहसान के कर्तव्यभाव से देने की अनुकम्पा कर रहे हैं। विज्ञापन का अर्थ कोई प्रतिबद्धता मेरे लिए कभी नहीं रहा। विज्ञापन आते हैं सहजभावेन तो उन्हें उनका स्वरूप देख कर छाप लेता हूँ। भीख; किन्तु बंद है। स्वाभिमान और अभय बरकरार हैं। खुशामद का कोई सवाल ही नहीं है। इस तरह विशेषांकों का अर्थतन्त्र गड़बड़ाया है। इस साल तो उन्हें प्रकाशित कर रहा हूँ; किन्तु अगले साल देखूंगा कि इस संदर्भ में सार्थक और भव्य क्या किया जा सकता है।

बावजूद महँगाई की चुनौती के जनवरी ८९ से अप्रैल ८९ तक दो विशेषांक संयोजित कर रहा हूँ। ये हैं—‘शाकाहार विशेषांक’ (जनवरी-फरवरी १९८९) तथा ‘जैन पद-साहित्य विशेषांक’ (मार्च-अप्रैल १९८९)। एक में भक्ष्याभक्ष्य के साँस-तोड़ते विवेक को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न होगा और दूसरे में मध्यकालीन जैन कवियों के पद-साहित्य का अमृतोपम रसास्वादन। एक

‘चौके’ के लिए होगा, दूसरा ‘चौकी’ के लिए । मेरा मानना है कि यदि आहार और विचार शुद्ध होता है तो आचार आपोआप शुद्ध होगा । यहाँ चौका ‘आहार’ और चौकी ‘स्वाध्याय’ की प्रतीक है । ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि आज ये दोनों स्वलित हैं । इन्हें यदि हमने आज नहीं सँभाला तो कल ये इस क्रूर टूटफूट जाएँगे कि हम कोई कारगर उपाय इनके पुनरुज्जीवन का फिर नहीं कर पायेंगे । मुझे विश्वास है ‘तीर्थंकर’ के पाठक इनका भरपूर उपयोग करेंगे, सहयोग देंगे, और मुझाव भेजेंगे कि इन्हें किस तरह अधिकाधिक उपयोगी बनाया जाए ।

—नेमीचन्द्र

(संपादकीय : पृष्ठ ४ का शेष)

चाहे जिस तरह हो हमें आम जैन की अस्मिता की रक्षा करनी होगी और उसके साथ अच्छा/तर्कसंगत बर्ताव करना होगा । आम जैन कुछ अधिक नहीं चाहता वह चाहता है एक प्रामाणिक आचार और कुछ प्रेरक आदर्श । उसके सामने जो आदर्श थे, वे खण्डित हो चुके हैं और नये आदर्श उभर कर सामने नहीं आये हैं । इस समय उसकी नज़र साधुओं पर है । वह उनसे मार्गदर्शन की अपेक्षा रख रहा है । यदि वह वहाँ से भी निराश होता है तो फिर रास्ता काफी कंटकाकीर्ण हो जाएगा । हम कह सकते हैं कि यह एक तरह का सामाजिक प्रलय होगा ।

कारण साफ है । उसके मन में कुछ आकांक्षाएँ/अपेक्षाएँ आज भी हैं । जैनत्व को ले कर उसके भीतर आज भी कुछ संस्कार मौजूद हैं । बावजूद सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव के उसके भीतर जैनत्व के लिए हाशिया बना हुआ है । वह बहुत चौकस भाव से अपने चारों ओर छानबीन कर रहा है । अभी उसे कोई डगर मिली नहीं है । वह चौराहे पर है । तरह-तरह की आवाजें उसके कान पर पड़ रही हैं । वह परम्परित और नवविकसित कसौटियों पर इन आवाजों को कस-परख रहा है । संभव है वह निराश हो, संभव है कोई जन कहीं किसी कोने से उभर कर उसकी आज्ञा-आकांक्षा का आधार बन जाए; किन्तु कुल मिला कर अभी ऐसी कोई संभावना सामने नहीं है ।

पहली प्रतिमा पर से जब हमारी आँख दूसरी पर आती है तब लगता है कि यह दूसरा युगसत्य है, जिसने ‘प्रतिमा-रिक्ति’ का आकार ले लिया है । जिस तरह इस प्रतिमा-कोटर में-से प्रतिमा गायब है और सिर्फ उसकी खाली जगह बच रही है ठीक उसी तरह से जैनत्व लुप्त हो गया है और सिर्फ उसकी उत्तर छाया अवशिष्ट है । यह एक ऐसी कड़वी सचाई है, जिसे हलक के नीचे उतारना कठिन है; किन्तु जिसके होने में कोई संदेह नहीं है । जल्दी ही जो ठोस सत्य है, वह लुप्त हो जाएगा (होने लगा है) और सिर्फ उसकी छाया कुछ दिनों के लिए छूट जाएगी । कालान्तर में यह छाया भी ‘ब्लैक होल’ में बदल जाएगी और अपने इर्दगिर्द के अस्तित्व को निगलने लगेगी । सिर्फ खोखलापन रह जाएगा; शेष खत्म हो जाएगा ।

क्या हम तीर्थों के जीर्णोद्धार से पहले इन खतरों की ओर ध्यान देना पसंद नहीं करेंगे और दिखावे का जन-जीवन जीने की अपेक्षा ठोस यथार्थ का जीवन नहीं जीना चाहेंगे ? □

## जैनधर्म और साम्प्रदायिक सद्भाव

- अपने लिए तो सब जीते हैं, जीना तो किन्तु वह महान् है जो दूसरों के लिए जिया जाता है। दूसरों का हाथ पकड़ कर चलने में बड़ा सुख मिलता है, उन्हें ठुकरा कर आगे चलना कोई चलना नहीं है, वह तो स्वयं को धोखा देना है।
- णमोकार मन्त्र गुणों का अभिवन्दन है। यह गुणात्मक नमस्कार है, गुणात्मक दृष्टि को अपनाते का मांगलिक आह्वान है। मनुष्य यदि गुणानुरागी बन जाता है तो फिर सारे झगड़े समाप्त होंगे।  
— डॉ. निजामउद्दीन

भारत में बार-बार साम्प्रदायिक दंगे होते हैं; और जब ऐसे दंगे भड़कते हैं, तब उस समय आगजनी, हिंसा, मार-काट, लूट-पाट, हत्याकाण्ड से लोग कांप उठते हैं, भयभीत हो जाते हैं। इन दंगों से हमारा अभिप्राय हिन्दू-मुस्लिम दंगों से ही सीधा है। यों दंगे तो मुसलमानों की दो जातियों—शिया-सुन्नी में भी होते रहे हैं। लखनऊ में मोहरम के पावन पर्व पर ऐसी अप्रिय घटनाएँ देखी गयी हैं। श्रीनगर (कश्मीर) में कई बार शिया-सुन्नी झगड़ों में आगजनी और लूटमार हो चुकी है और हिन्दुओं में भी विभिन्न जातियों में साम्प्रदायिक दंगों का रूप देखने में आया है। हरिजन जाति को अस्पृश्य समझ कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार हम देखते रहे हैं। राजस्थान की सरकार, वहाँ के मुख्यमन्त्री बघाई के पात्र हैं कि उन्होंने हरिजनों को नाथद्वारा के मन्दिर में प्रवेश कराया और कोई अप्रिय घटना नहीं हुई। पंजाब में जो नर-हत्याएँ आये दिन होती रहती हैं उनके पीछे राजनीतिक कारण हैं, साम्प्रदायिक नहीं और उनका समाधान राजनीति-के-मंच से किया जा सकता है। हम यहाँ जिस बात की चर्चा करना चाहते हैं उसका संबन्ध है तो साम्प्रदायिक दंगों से ही; लेकिन जैनधर्म और उसके अनुयायी साम्प्रदायिक दंगों को किस प्रकार साम्प्रदायिक सद्भाव में बदलते हैं; बदलने की क्षमता रखते हैं; उस पर ध्यान केन्द्रित करना है।

साम्प्रदायिक दंगों के कई एक कारण हैं; मुस्लिम युवावर्ग की मानसिकता में भारतीयता/राष्ट्रीयता का कुछ अभाव है, उसके मस्तिष्क के एक कोने में पाकिस्तान के प्रति (भारत की अपेक्षा) अधिक हमदर्दी पायी जाती है, जिसका प्रदर्शन अक्सर भारत-पाक क्रिकेट मैच के अवसर पर देखा जाता है। मुस्लिम वर्ग में शिक्षा का अभाव है, जो उन्हें वर्तमान प्रगति के साथ कदम मिला कर चलने की क्षमता/सामर्थ्य प्रदान नहीं कर सकता। चुनाव-अभियान को साम्प्रदायिक रंग दे कर चलाया जाता है। कहीं-कहीं व्यावसायिक स्पर्धा के कारण भी साम्प्रदायिक दंगों को हवा मिलती है; लेकिन एक बड़ा कारण इन दंगों का यह है कि अभी

तक हमारे मन की संकीर्णता दूर नहीं हुई; हृदय की विशालता, सद्भावना और मैत्री-भावना का अभाव है। यह मन की, विचारों की संकीर्णता है कि हम एक धर्म को मानने वाले दूसरे धर्म के मानने वालों को कुछ उपेक्षा-भाव से, घृणा से देखते हैं। जैनधर्म का योगदान साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त करने में, सद्भाव को बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का काम कर सकता है। यहाँ सब से मैत्रीभाव रखा जाता है, सबसे क्षमा माँगी जाती है, ऐसी उदारता दिखाने वाले धर्म में मानवीय मूल्यों की चाँदनी छिटकती नज़र न आयेगी तो फिर कहाँ आयेगी? यहाँ कहा जाता है—'मैं सब प्राणियों को क्षमा करता हूँ; सब प्राणी मुझे क्षमा करें; मेरी सब प्राणियों से मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं'—

**खम्मामि सब्वजीवाणं, सब्वे जीवा खमंतु मे ।**

**मिन्ती मे सब्वभूएसु, वैरं मज्झं ण केण वि ॥**

जब किसी से वैर नहीं, द्वेष नहीं, ईर्ष्या नहीं तो झगड़ा कैसा? कहाँ दंगा भड़केगा? यहाँ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, वैचारिक किसी भी प्रकार का कष्ट देना पाप माना जाता है, और पापी को पाप का कुफल अवश्य भोगना पड़ता है। कष्ट देना तो दूर की बात है, यदि मन में किसी जीव को कष्ट देने की बात आती है तो समझिये पाप-भाव प्रांकुरित हो गया। हिंसा के विचार से ही कर्म-बन्धन का सूत्रपात हो जाता है; इसलिए जीव को घात पहुँचाना अपने को ही घात पहुँचाना है, शलाकापुरुष महावीर ने साफ-साफ कहा है कि सब प्राणी जीने की इच्छा रखते हैं, मरना कोई नहीं चाहता; इसलिए प्राणी की हिंसा, का, प्राणवध का त्याग करना चाहिये। जैसे दुःख तुम्हें प्रिय नहीं, उसी प्रकार जीव को भी दुःख प्रिय नहीं, अतः सब जीवों के प्रति स्नेहभाव रखो; उनके प्रति सहानुभूति रखो—

**जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सब्वजीवाणं ।**

**सव्वायरमुवउत्तो अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥**

सबके प्रति स्नेह, ममता, सहानुभूति, दया, करुणा, प्रेम, सद्भाव, मैत्री रखना ही तो मानव-धर्म है, यही तो विश्व-धर्म है। अहिंसा, मैत्री, स्नेह, दया, करुणा से बढ़ कर और मानव-धर्म क्या होगा! अपने लिए तो सब जीते हैं, जीना तो वह महान् है जो दूसरों के लिए जिया जाता है। दूसरों का हाथ पकड़ कर चलने में बड़ा सुख मिलता है; दूसरे को गिरा कर, ठुकरा कर आगे चलना कोई चलना नहीं, यह तो अपने को धोखा देना है। इस प्रकार दौड़ कर विजयी होना बाहर से विजय ज़रूर दिखायी दे; लेकिन यह मनुष्य की पराजय है, कुण्ठा, तनाव, चिन्ता-ग्रस्त करने वाली विजय है। २४ वें ओलम्पिक खेलों में 'बेन जॉनसन' ने नशीले

पदार्थ का सेवन कर विजय प्राप्त की, चोटी का तेज धावक; लेकिन दूसरे ही क्षण उसके सिर पर रखा विजय-ताज इसलिए उतार लिया कि उसने दूसरों को धोखा दे कर विजय प्राप्त की। हम अपने हृदय को, अपनी अन्तरात्मा की पुकार का बार-बार, पल-पल अनसुना करते रहते हैं; इसलिए बड़ी-बड़ी हिंसाओं को करने से जरा भी नहीं झिझकते, हमारे पैर हिंसा-मार्ग पर आगे बढ़ते नहीं लड़खड़ाते-ठीक 'बेन जॉनसन' की तरह; परन्तु विजय सद्भाव की, विवेक की, सद्ज्ञान की, सत्य की, अहिंसा की ही होती है, अहिंसा ही उत्तम धर्म है, अहिंसा ही मानव-धर्म है, श्रेष्ठ धर्म है, सुमेरु पर्वत से भी महान् और श्रेष्ठ है -

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।

जह तह जयंभि जाणसु, धम्महिंसासमं नत्थि ॥

जब हम दूसरे को पीड़ा पहुँचाते हैं, तब यह कभी नहीं चाहते कि कोई हमें पीड़ा पहुँचाये। यदि हम दूसरे के मकान को, उसकी दुकान को जलाते हैं, गाड़ी-स्कूटर को आग की लपटों के हवाले करते हैं, तो यह नहीं चाहते कि कोई हमारे मकान-दुकान को, गाड़ी-स्कूटर को आग लगाये। जब हम अपने लिए यह सब नहीं चाहते तब फिर क्यों दूसरे के लिए यह सब हानिकारक कर्म करते हैं? क्यों दूसरों का नुकसान करते हैं? यह देखा गया है कि अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े कारोबारी-केन्द्रों पर मुसलमान कामगर हैं, दुकानों के मालिक ग़ैर-मुस्लिम हैं। जब उन ग़ैर-मुस्लिमों की दुकानें नज़रे-आतिश की जाती हैं तो मुस्लिम कारिन्दे-मजदूर भी तो बेरोजगार हो जाते हैं, अन्न को तरसने लगते हैं। किसी उन्माद में, जुनून में आ कर ग़लत क्रदम उठाना विनाश को निमन्त्रण देना ही तो है। मान लीजिए एक वर्ग-सम्प्रदाय, दूसरे वर्ग-सम्प्रदाय के कारोबार को नष्ट करना चाहता है, उसकी दुकानों को खाक करना चाहता है, दूसरे की आर्थिक दशा बिगाड़ना चाहता है तो नया इस कुकृत्य से उसी वर्ग-सम्प्रदाय को हानि होगी? जो हानि पहुँचाने का इच्छुक वर्ग है, क्या वह उससे प्रभावित न होगा? जरूर होगा। जो दूसरों के लिए गड़ढा खोदता है, उसे भी देर-सबेर उस गड़ढे में गिरना पड़ता है; इसलिए हमारा उत्तर-दायित्व यह बनता है कि हम दूसरों के लिए भी वही चाहें जो अपने लिए चाहते हैं, और जो अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी न चाहें। यहाँ फिर महावीर की वाणी दोहरानी पड़ती है -

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि या, एत्थियगं जिणसासणं ॥

जैनधर्म में साम्प्रदायिकता का भाव नहीं, वह सद्भाव का धर्म है, उसमें रंगी-नस्ल का, ब्राह्मण-शूद्र का, जातीयता का, प्रान्तीयता का, भाषावाद का कोई संघर्ष नहीं। महावीर की वाणी प्राकृत में आज भी मौजूद है; परन्तु भारत की

आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं में उसका प्रचुर साहित्य रचा जा रहा है । 'स्थानांगसूत्र' में जिन दस धर्मों का उल्लेख है उनमें हम राष्ट्रधर्म, संघधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म आदि सभी को देख सकते हैं । यहाँ कोई साम्प्रदायिक या प्रान्तीय भेद-भाव नहीं । जैनधर्म तो सम्प्रदायातीत धर्म है । जब हम 'नमस्कार मन्त्र' पर दृष्टि डालते हैं तब इसमें सभी आचार्यों-साधुओं का अभिवन्दन है । वहाँ वे किसी देश, प्रान्त, जाति, सम्प्रदाय-विशेष के नहीं होते । वे तो गुणाकर हैं, गुणों का अक्षयस्रोत हैं और गुण सर्वहितकारी होते हैं । सोना, हीरा सबके लिए ग्राह्य होते हैं । सोने को हम इसलिए नहीं ठुकरा सकते कि वह शूद्र के, नीच व्यक्ति के हाथ में है, किसी विदेशी संस्कृति से उसका संबन्ध है । गुणों का अभिवन्दन णमोकार मन्त्र है । यह गुणात्मक नमस्कार है, गुणात्मक दृष्टि को अपनाने का मांगलिक आह्वान है । मनुष्य यदि गुणानुरागी बन जाता है तो फिर सारे झगड़े समाप्त होंगे । जहाँ कहीं मत-वैभिन्य का अन्धकार खड़ा हो कर हमारे मार्ग को रोकता है, वहाँ हमें स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का आलोक प्रस्फुटित हो कर उद्मार्ग दर्शाता है । अनेकान्तवादी दृष्टि वाला व्यक्ति समझौते की डगर पर चलता है, संघर्ष के कंटकाकीर्ण मार्ग पर नहीं चलता । यहाँ कोई मताग्रह नहीं, धर्माग्रह नहीं, फिर झगड़ा कैसे होगा ? जैनधर्म के अनुयायी साम्प्रदायिक दंगों को न पसंद करते हैं, न उनमें उन्हें उलझा हुआ पायेंगे । जहाँ कहीं साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, उन्हें रोकने और दबाने के लिए अहिंसक तथा अनेकान्तवादी दृष्टि को अपनाने की आवश्यकता है, फिर स्वतः साम्प्रदायिक सद्भाव का 'सर्वोदयतीर्थ' दिखलायी पड़ेगा ।

आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के उपदेश को 'सर्वोदयतीर्थ' का अभिधान देते हुए कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्प सबान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्ष्य ।

सर्वाऽपदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव ॥

'सर्वोदय' से मतलब सबकी खुशहाली, सबके साथ समानता का, स्वतन्त्रता का व्यवहार करना है । यहाँ किसी वर्ग-सम्प्रदाय की बात नहीं कही गयी है । जहाँ समाज में सर्वोदय की भावना होती है, वहाँ किसी की हिंसा की बात कहाँ आ सकती है ? 'पर-पीड़ा' का भाव तो पशुता का द्योतक है जबकि 'पर-हित' का भाव मानवता का, मानवीय गुणों का द्योतक है, मानवीय मूल्यों की अवधारणा का सूचक है ।

जब संघर्ष, हिंसा, रक्तपात का ताण्डव समाज में देखा जाता है, तब उसके पीछे अपने मत को, दृष्टिकोण को सही समझना और दूसरे को गलत समझना यह संकीर्ण तुच्छ मनोवृत्ति छिपी रहती है; अतः हमें उदारदृष्टि, उदारहृदय रखना चाहिये । यह नहीं कि मन्दिर में शंख बज रहा है तो मस्जिद में अजान बन्द कर दें, या मस्जिद में अजान हो रही है तो भजन-कीर्तन, संध्या-वन्दन बन्द कर दें ।



समाज में रहने का मकसद सहिष्णुता, सहनशीलता ही तो है । यदि सहिष्णुता, सहनशीलता न होगी तो फिर समाज का होना बेसूद है । महावीर का कथन कितना सत्य और आज के संदर्भ में कितना प्रासंगिक है —

सयं सयं पसंसता गरहंता परं वयं ।

जे उ तन्थ विडस्संति, संसारं ते विडस्सिया ॥

— सूत्र कृतांग (भाग 1); 1, 1, 2-23

अर्थात् अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के वचन की निन्दा करते हुए जो मतवादीजन उस विषय में अपना पाण्डित्य दिखाते हैं, वे वास्तव में एकान्तवाद के मताग्रहरूप मिथ्यात्व के कारण जन्म-मरणरूप संसार-बन्धन में जकड़े हुए हैं । यह मेरा है, यह पराया है इसक ध्यान करना अधमता है, नीचता है । उदार मान वाले व्यक्ति के लिए यह पृथ्वी, संसार कुटुम्ब के समान होता है । कुटुम्बवत् दृष्टि का यह पाठ, इसकी अभिप्रेरणा मिलती है जैनधर्म से । यहाँ सभी धर्मों, मतों, सम्प्रदायों, गुरुओं, साधुओं, विद्वानों, मनीषियों के प्रति पूर्ण आदर-सम्मान दर्शाया जाता है । उनके मन्दिर के द्वार सब लोगों के लिए खुले हुए हैं । इसका मैंने व्यक्तिगत अनुभव किया है । भिलाई में नवनिर्मित जैन मन्दिरों को देखा, बनारस में पार्श्वनाथजी का मन्दिर देखा, भागलपुर के भव्य मन्दिरों की सौम्य विशाल भगवान् महावीर की मूर्तियों की छवि आज भी अन्तःकरण में मौजूद है । वहाँ साथ थे श्री जैनेन्द्रकुमारजी, श्री रामजीतसिंहजी । ललितपुर के सन्निकट असंख्य मूर्तियों के दर्शन किये । इन्दौर में भगवान् महावीर की भव्य प्रतिमा के दर्शन डॉ. गोकुलचन्द्र जैन (वाराणसी) के साथ किये । दिल्ली में, रामपुर में जैन मन्दिर देखे ।

जैनधर्म की उदार दृष्टि साम्प्रदायिक द्वेष-भाव को, हिंसा को रोकने में समर्थ है, बशर्ते कि लोग बाहर आयें । क्रोध को, लोभ को, अज्ञानता को जब तक नहीं छोड़ेंगे, हम समाज को हिंसा-आतंक-युक्त नहीं बना सकते । 'क्रुद्धा हणंति, लुब्धा हणंति, मुद्धा हणंति, (प्रश्नव्याकरण १/१) अर्थात् कुछ लोग क्रोधावेश में आ कर हिंसा करते हैं, कुछ लोभाविष्ट हो कर हिंसा करते हैं, कुछ अज्ञान के कारण हिंसा करते हैं । हमारा अर्थतन्त्र लोभ-लालच की बुनियाद पर खड़ा है । स्वार्थ-भावना इतनी दूषित है कि मनुष्य सत्-असत्, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म सब कुछ बिसर बैठता है । लाभ-ही-लाभ कमाने के चक्कर में वह अपने-आपको, बाल-बच्चों को, धर को, सबको भूल बैठता है । लखपति और करोड़पति बनने के स्वप्न को साक्षात्कार करने में अपने को निराकार कर बैठता है । इच्छाएँ तो अनन्त हैं, आकाश के समान अनन्त और असीम हैं । आज के मनुष्य की दशा उस व्यक्ति के समान हो गयी है जो राजा से यह आदेश पा कर कि सूर्यास्त होने से पूर्व जितनी भूमि पर वह चक्कर लगा कर लौट आयेगा उतनी भूमि पर उसका आधिपत्य हो जाएगा । वह

तीर्थंकर : दिसम्बर ८८/१५

मनुष्य सूर्योदय से दौड़ना शुरू करता है, तमाम दिन दौड़ता रहता है, और जब एक विशाल भू-भाग पर दौड़ कर लौटता है तब रास्ते में ही दम तोड़ बैठता है, राजा तक भी नहीं पहुँच पाता है। लोभ, लालच से, मोह से, धनार्जन करने की इच्छा-तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। आज चारों ओर धन-की-आपाधापी मची है, और धर्म उसके आँचल से खिसकता जा रहा है; मानवीय मूल्यों का वह गला घोट रहा है। लगता है कि मनुष्य विवेक-शून्य हो गया है, उसकी प्रज्ञा-बुद्धि नष्ट हो गयी है। वह नेत्रहीन बना दर्पण देखने का प्रयास कर रहा है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥

भारत में गत कुछेक वर्षों से जो साम्प्रदायिक दंगों के कारण जान-माल की भारी क्षति होती रही है, उसे देख ऐसा लगता है कि हिन्दू-मुसलमान अपने को पड़ोसी समझना भूल जाते हैं और लोभ क्रोध, अज्ञान के कारण मानवता की भावना को भी बिसार बैठते हैं। ऐसी बिगड़ती स्थिति में जैनधर्म, उसके अनुयायी, उसके साधुगण हमारे अज्ञानान्ध नेत्रों को खोल सकते हैं। यहाँ कोई धर्माग्रह नहीं, मताग्रह नहीं है, चारित्र्याग्रह है; अहिंसाग्रह है; अपरिग्रहाग्रह है, संयमाग्रह है, करुणाग्रह है, स्नेहाग्रह है। इस रास्ते पर साम्प्रदायिक सद्भाव की सुगन्ध मिलेगी, मैत्री के फूल नजर आयेंगे। स्नेह की शीतलता मिलेगी, मानवीयता की बाँहें आलिंगन को बेकरार होंगी।

□□

## तुमने देखा होगा —

पता जब  
डाल से झरता है ।  
तब लगता है  
मृत्यु के भय से  
विह्वल हो कर  
गड़ जाएगा धरती में;  
या इधर-उधर बिखर कर,  
सुरक्षा का इन्तज़ाम करेगा ।  
काल ने उसे धराशायी  
तो कर दिया ।  
उसने भी  
सहजभाव से  
मृत्यु को वर लिया ।  
तुमने देखा होगा —

उसके झरने में कितनी लय  
और कितना संगीत होता है ।  
अन्तिम यात्रा में  
जाते हुए भी,  
उसके पोर-पोर में  
जीवन का  
मधुरिम गीत होता है ।  
मानो वह सुखद यात्रा में  
जा रहा हो ।  
मर कर भी  
जीवन-रस पा रहा हो ।  
यही है —  
जीवन और मृत्यु के प्रति  
तटस्थ भाव ।

डॉ. रघुनन्दन चिले

## प्रकाश : सजीव या निर्जीव ?

प्रकाश-के-कण (फोटोन) को अग्निकाय नहीं कहा जा सकता; किन्तु प्रकाश उत्पन्न करने वाले पदार्थ, उनको ज्योति आदि को अग्निकाय मानना चाहिये; अतः बिजली के बल्ब में जब हम विद्युत्-प्रवाह संचारित करते हैं, तब टंगस्टन धातु के तार गर्म हो कर प्रकाशित हो उठते हैं, इसी समय इन तारों में अग्नि की उत्पत्ति होती है, अतः उन गर्म तारों को ही सजीव कहा जाता है, ठीक उसी तरह प्रज्वलित अंगारे, अग्नि की लपट, ज्योति, आकाश-में-कौधती बिजली, राख में ढँके अग्नि-कण इत्यादि को ही अग्निकाय कहा जाता है; किन्तु उनमें-से प्रकट होते प्रकाश को अग्निकाय नहीं कहा जा सकता ।

### — मृनि नंदीघोष विजय

भगवान् महावीर को हुए आज लगभग ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं, तथापि उनका शासन आज भी अविच्छिन्न रूप में अजेय है । उन्होंने केवलज्ञान से भौतिक-जगत् का जो स्वरूप प्रत्यक्ष किया, उसे अपने धर्मोपदेशों में भलीभाँति समझाया और आज भी उनके बताये हुए सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं ।

जीव-विज्ञान के क्षेत्र में, जैन धर्म-ग्रंथों या जैनदर्शन का जो अनुपम योगदान है उसे स्वीकार किये बगैर हम चल नहीं सकते । जैन दार्शनिक परम्परा के अनुसार, प्राणियों और वनस्पति के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में भी जीव या आत्मा है । उन सबमें, मात्र तर्क के आधार पर नहीं, वरन् वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार प्रायोगिक स्तर पर जीवत्व की सिद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है । युग की इस माँग को तत्काल पूरी करने की जिम्मेदारी हम सबकी है ।

जैन समाज में, खास तौर पर साधु समाज में, 'प्रकाश' (लाइट) के बारे में पिछली कुछेक सदियों में कतिपय भ्रान्तियाँ प्रचलित हुई हैं । इन मान्यताओं को शास्त्र का प्रबल समर्थन नहीं है । आमतौर पर जैन उपाश्रयों और स्थानकों में दीपक (लैम्प) का उपयोग नहीं होता है; क्योंकि जैन साधु-समाज के लिए अहिंसा-का-पालन अत्यन्त आवश्यक है और जैन दार्शनिक परम्परा के अनुसार अग्नि में भी आत्मा होती है ।

आज श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन साधु-समाज में ऐसा आचार है कि रात्रि में यदि दीपक (लैम्प) का प्रकाश हो तो, उस प्रकाश में-से पसार होने के समय साधु-साध्वी अपने शरीर को गर्म वस्त्र (ऊनी) या कम्बल से लपेट लेते हैं । इस परम्परा, प्रथा या आचार का कारण पूछने पर बताया जाता है कि प्रकाश तेजोकाय है और अपने शरीर पर पड़ने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है; अतः दीपक, चाहे वह मोमबत्ती का हो या कैरोसिन का या तेल का, घी का या बिजली का

हो उसका प्रकाश अपने शरीर पर न पड़े, इसलिए गर्म कम्बल का उपयोग किया जाता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा इत्यादि के प्रकाश को निर्जीव माना गया है।

दूसरी ओर आज विज्ञान में बहुत कुछ खोजें हुई हैं जिनके आधार पर कुछ लोग बिजली के लट्टू, लालटेन, मोमबत्ती इत्यादि के प्रकाश को निर्जीव मानते हैं, तो फिर वास्तविक स्थिति क्या है, इस पर जैन धर्म-शास्त्रों और आगमों के आधार पर विचार करना आवश्यक है।

जैन धर्मग्रन्थों के अनुसार पुद्गल द्रव्य के भिन्न-भिन्न वर्गीकरणों में-से एक वर्गीकरण इस प्रकार है -

पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं - (१) सूक्ष्म सूक्ष्म, (२) सूक्ष्म, (३) सूक्ष्म बादर, (४) बादर सूक्ष्म, (५) वादर, (६) बादर बादर। याकिनी महत्तरामुनु आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वर ने, 'दशवैकालिक' सूत्र की वृत्ति में जीवाभिगम सूत्र के आधार पर बताया है कि पुद्गल द्रव्य का प्रत्येक परमाणु, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका सूक्ष्म सूक्ष्म वर्ग में समावेश होता है, दो-दो परमाणुओं के पुद्गल-स्कन्धों से ले कर सूक्ष्म परिणाम-युक्त अनन्त परमाणुओं के पुद्गल स्कन्धों का समावेश सूक्ष्म नामक द्वितीय वर्ग में होता है, सूक्ष्म बादर श्रेणी में गन्ध (सुगन्ध और दुर्गन्ध) के परमाणु पुद्गल स्कन्ध में समाविष्ट किये गये हैं।

वायुकाय के जीवों का शरीर बादर सूक्ष्म है। जल के जीवों के शरीर को बादर श्रेणी में रखा गया है हालाँकि अग्निकाय, वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय आदि अन्य सब त्रस जीवों के शरीर को 'बादर बादर' माना गया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' की वृत्ति में श्रीसिद्धसेन गणि ने वायुकाय को तेजोकाय (अग्नि) से अधिक सूक्ष्म बताया है। कारण बताते हुए वे कहते हैं कि तेजोकाय प्रत्यक्ष हो सकते हैं, वायुकाय प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं।

दूसरी ओर आधुनिक विज्ञान स्पष्ट रूप में बताता है कि प्रकाश के कण (पार्टिकल्स), जिन्हें 'फोटोन' कहा जाता है, इलेक्ट्रॉन की तरह बहुत सूक्ष्म हैं; हालाँकि वायु, जैसा कि हाइड्रोजन, ऑक्सीजन आदि उनसे बहुत कुछ मात्रा में स्थूल हैं, क्योंकि हाइड्रोजन के एक अणु में एक इलेक्ट्रॉन, एक प्रोटोन और एक न्यूट्रोन होते हैं। ऑक्सीजन के एक अणु में १६ इलेक्ट्रॉन, १६ प्रोटोन और १६ न्यूट्रोन होते हैं और वायु सदैव दो-दो अणुओं के युग्म में ही उपलब्ध होती है, जिसे वैज्ञानिक परिभाषा में 'मोलीक्यूल' कहा जाता है।

इस दृष्टि से प्रकाश-के-कण (फोटोन) को अग्निकाय नहीं कहा जा सकता; किन्तु प्रकाश उत्पन्न करने वाले पदार्थ, उनकी ज्योति आदि को अग्निकाय मानना

चाहिये; अतः बिजली के बल्ब में जब हम विद्युत्-प्रवाह प्रसारित करते हैं, तब टंगस्टन धातु के तार गर्म हो कर प्रकाशित हो उठते हैं, उसी समय उन तारों में अग्नि की उत्पत्ति होती है; अतः उन गर्म तारों को ही सजीव कहा जाता है, ठीक उसी तरह प्रज्वलित अंगारे, अग्नि की ज्वाला, ज्योति, आकाश में कौंधती बिजली, राख में ढँके अग्नि-कण इत्यादि को ही अग्निकाय कहा जाता है, किन्तु उनमें-से प्रकट होते प्रकाश को अग्निकाय नहीं कहा जा सकता ।

‘आचारांग’ के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक की निर्युक्ति में बादर अग्नि के पाँच प्रकार बताये हैं —

(१) अंगार, कोयले आदि; (२) विद्युत् आदि अग्नि; (३) ज्वाला अर्थात् अग्नि उत्पन्न करने वाले पदार्थ से विच्छिन्न ज्वाला; (४) अग्नि उत्पन्न करने वाले पदार्थ से संलग्न ज्वाला, जिसे अर्चिस् कहा जाता है; और (५) राख (रक्षा) में ढँके हुए अग्नि-के-कण जिसे मुर्मर कहा जाता है ।

इन प्रकारों में कहीं भी प्रकाश को सजीव नहीं बताया गया है; किन्तु प्रकाश और उसके उष्ण स्पर्श को, अग्नि के सजीव होने के लक्षण अर्थात् अग्नि के सजीवत्व का सूचक बताया है । इसी सन्दर्भ में आचारांग-निर्युक्तिकार ‘खजुआ’ का दृष्टान्त देते हैं और बताते हैं कि जिस तरह खजुआ जब तक जीवित होता है, तब तक ही प्रकाश देता है; किन्तु वह उसकी मृत्यु हो जाने के बाद प्रकाश नहीं देता अर्थात् उसका प्रकाशित होना, उसके चैतन्य का सूचक है, ठीक उसी तरह तेजो काय (तेउकाय) जब सजीव होता है, तब ही प्रकाशित होता है । इसी तरह सजीव प्राणी या मनुष्य का शरीर ही उष्ण होता है, किन्तु मृत्यु के बाद वही ठण्डा पड़ जाता है, इसी भाँति अग्नि सजीव होने से उष्ण स्पर्श से युक्त है अर्थात् उष्ण स्पर्श, उसके सजीवत्व का प्रमाण या द्योतक है; अतः अग्नि की रोशनी अर्थात् प्रकाश को सजीव मानना उपयुक्त नहीं है ।

‘दशवैकालिक’ में दशपूर्वधर श्री शय्यंभवसूरिजी बताते हैं कि किसी भी साधु या साध्वी को अग्नि, अंगार, मुर्मर, अर्चिः, ज्वाला, शुद्ध अग्नि, बिजली, उल्का इत्यादि को जलाना नहीं चाहिये, ऐसी अग्नि में घी इत्यादि और ईंधन इत्यादि का उत्सिंचन न करना, ऐसी अग्नि का स्पर्श न करना, भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्नि का मिश्रण न करना, उसे पंखा इत्यादि से प्रज्वलित न करना अर्थात् वृद्धि न करना और किसी भी प्रकार की अग्नि को बुझाना भी नहीं, उपर्युक्त सभी क्रियाएँ दूसरों से नहीं कराना और जो भी ऐसी क्रियाएँ कर रहा हो उसे अच्छा नहीं मानना; अर्थात् इन सभी क्रिया करने वालों को अग्नि की विराधना या हिंसा का पाप लगता है ।

यहाँ कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं है कि तेउकाय द्वारा उत्सर्जित प्रकाश मनुष्य (साधु-साध्वी) के शरीर पर पड़ने से तेउकाय की विराधना होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ ऐसा निर्देश प्राप्त होता है कि अग्नि या दीपक (लैम्प) जलता हो तो, साधु या साध्वी उसे बुझाने का आदेश या प्रेरणा या उपदेश भी नहीं दे सकते दीपक जलता हो तो साधु-साध्वी का निमित्त पा कर उसे बुझाना योग्य नहीं है। यदि दीपक द्वारा उत्सर्जित प्रकाश में आत्मा होती और उस प्रकाश के मनुष्य-के-शरीर पर पड़ने से मृत्यु होती, तो अहिंसा का संपूर्ण पालन करने के लिए ऐसी अग्नि को बुझाने की प्रेरणा देने या ऐसे स्थानों से दूर रहने का सुस्पष्ट विधान शास्त्रों में मिलता; किन्तु ऐसे विधान की अप्राप्ति इस बात का निर्देश करती है कि अग्नि, जिसमें-से प्रकाश और उष्णता पैदा होती है, सजीव है, उसे बुझाने का उपदेश देने या बुझाने से उसकी हिंसा होती है; किन्तु प्रकाश के सजीव न होने के कारण उसके साधु-साध्वी के शरीर पर पड़ने से हिंसा नहीं होती है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि ऊपर जो बताया गया है, उसका (प्रकाश का) आगमिक साहित्य में कहीं भी तेउकाय में समावेश नहीं हुआ है अर्थात् वह सजीव नहीं है; फिर उसे सजीव मानने की परम्परा कब और कैसे शुरू हुई? इस पर गहराई से विचार करना होगा।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छीय परम्परा के साधु और श्रावक के अतिचारों में और सेनप्रश्न में इस बात का सन्दर्भ प्राप्त होता है :

प्रश्न : यदि चातुर्मास में प्रतिक्रमण आदि में बिजली का प्रकाश हो तो अतिचार लगेगा या नहीं ?

उत्तर : पूज्यपाद श्री विजयदानसूरीश्वरजी तथा पूज्य श्री विजयहीरसूरीश्वरजी से ऐसा सुना है कि शेष काल में और चातुर्मास में प्रतिक्रमण योग के अनुष्ठान इत्यादि क्रिया में बिजली का प्रकाश हो तो अतिचार लगता है, क्रिया अतिचार-युक्त होती है, कालग्रहण का भंग होता है।

प्रश्न : चन्द्र के प्रकाश में दीपक इत्यादि के प्रकाश की स्पर्शना होती है या नहीं ?

उत्तर : यदि शरीर को चन्द्र का प्रकाश लगता हो तो दीपक इत्यादि के प्रकाश की स्पर्शना नहीं होती है; किन्तु शरीर को चन्द्र का प्रकाश न लगता हो तो दीपक इत्यादि के प्रकाश की स्पर्शना होती है, ऐसी परम्परा है, और खरतरकृत संदेह दोलावली में भी ऐसा बताया गया है।

विक्रम के १४ वें शतक में खरतरगच्छीय आचार्य श्री मज्जिनवल्लभसूरि के शिष्य आ. श्री जिनदत्त सूरि ने 'संदेह दोलावली' प्रकरण की रचना की है। यह ग्रन्थ भी प्रश्नोत्तर रूप में है। इस ग्रंथ की गाथा-४१ और ४२ की वृत्ति में इस बात का निर्देश प्राप्त होता है और उसी समय से प्रकाश को सजीव मानने की परम्परा शुरू हुई होगी ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि 'संदेह दोलावली प्रकरण' की मूल गाथा से ऐसा कोई अर्थ प्राप्त होता नहीं है; किन्तु वाचभाचार्य श्री प्रबोधचन्द्र गणि ने वृद्ध वृत्ति में इसकी विस्तृत चर्चा की है। सार इस प्रकार है:

प्रतिक्रमण की क्रिया करने वाले मनुष्य (साधु या गृहस्थ) विद्युत्, प्रदीप इत्यादि का यदि दो बार या चार बार स्पर्श करें या बहुत बार स्पर्श करें तो उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यहाँ इत्यादि शब्द से पृथ्वीकाय आदि अन्य सच्चित्त द्रव्य लिये गये हैं अर्थात् सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में सच्चित्त द्रव्यों का स्पर्श नहीं करना चाहिये। अग्नि, दीपक आदि सच्चित्त होने से, उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। 'संदेह दोलावली' की इन गाथाओं में 'विद्युत्' शब्द है अतः उसका अर्थ 'आकाश में होने वाली बिजली' लेना है, जो सजीव है; किन्तु सामायिक-प्रतिक्रमण की क्रियायुक्त मनुष्य उसका स्पर्श नहीं कर सकता; अतः टीकाकार वाचनाचार्य और अन्य 'विद्युत्' शब्द से बिजली का प्रकाश ग्रहण करने हैं अतः उसी समय से किसी भी प्रकार के। अग्नि का प्रकाश सच्चित्त है, ऐसी मान्यता प्रचलित हुई होगी ऐसा अनुमान है।

दूसरी ओर 'संदेह दोलावली' के वृत्तिकार चन्द्र के प्रकाश में दीपक इत्यादि के प्रकाश की स्पर्शना होती है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते समय भी इसी प्रकार की चर्चा करते हैं।

वे कहते हैं कि चन्द्र, सूर्य इत्यादि के विमान की प्रभा से या प्रकाश से उजेही (स्पर्शना) तो होती ही है; किन्तु वह अपरिहार्य है। तुरन्त ही वे दूसरा उत्तर यह देते हैं कि सूर्य, चन्द्र के प्रकाश का मात्र स्पर्श होता है; किन्तु उसके निर्जीव होने से विराघना (ज़ीव-हिंसा) संभव नहीं है।

पुनः आगे चर्चा करते हुए वे स्वयं पंचमांग श्री भगवती सूत्र या व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र का उद्धरण देते हुए सूर्य-चन्द्र के प्रकाश की सच्चित्तता के बारे में शंका उपस्थित करते हैं और स्वयं नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरिजी के वचनों का आधार ले कर कहते हैं कि सूर्य, चन्द्र इत्यादि के प्रकाश का सकर्मलेश्यत्व (सजीवत्व) मात्र उपचार से ही है, वस्तुतः वह सजीव नहीं है। सूर्य, चन्द्र इत्यादि के विमानों के पुद्गल स्कन्ध पृथ्वीकाय होने से सच्चित्त हैं; किन्तु उनका प्रकाश अचित्त है, कुछ एक जीवों को (चन्द्र में) उद्योत नामकर्म का उदय है, अतः उनके

शरीर दूर होने पर भी उष्ण नहीं, ऐसा प्रकाश (शीतल) देते हैं; जबकि कुछ-एक जीवों को (सूर्य में) आतप नाम कर्म का उदय होने से उनके अनुष्ण शरीर, दूर रहने पर भी उष्ण प्रकाश देते हैं; अतः उनके प्रकाश की स्पर्शना में विराधना नहीं होती है।

यहाँ पुनः शंका उपस्थित की जाती है कि यदि ऐसा ही है तो बिजली, दीपक इत्यादि के प्रकाश के संबन्ध से भी विराधना होती नहीं है ऐसा कहना चाहिये; क्योंकि बिजली, दीपक इत्यादि का अग्निकाय रूप स्थूल शरीर तो दूर ही होता है। प्रत्युत्तर देते हुए 'सिद्धेह दोलावली' के टीकाकार कहते हैं कि अग्निकाय में उद्योत नामकर्म का उदय नहीं है और पृथ्वीकाय न होने से आतप नाम कर्म का भी उदय नहीं है; क्योंकि आगम में बताया गया है कि अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय को ही आतप नामकर्म का उदय होता है।

अतः प्रश्न उपस्थित हुआ कि दीपक इत्यादि का प्रकाश दूर-स्थित वस्तुओं को प्रकाशित (उद्योतित) करता है और गर्म भी करता है वह किस तरह? इसके उत्तर में वाचनाचार्य श्री प्रबोधचन्द्र गणि कहते हैं कि उष्ण स्पर्श के उदय वाले और लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय वाले प्रकाशयुक्त अग्निकायिक जीव ही आस-पास के विस्तार में फैलते हैं; किन्तु अग्निकाय को प्रभा न होने से और उसके अतिसूक्ष्म होने से उन्हें ही प्रभा के रूप में पहचाना जाता है।

वाचनाचार्य श्री प्रबोधचन्द्र गणि का यह अन्तिम उत्तर श्री दशवैकालिक सूत्र की हारिभद्रीय वृत्ति में दिये गये जीवाभिगम सूत्र के पाठ से बिल्कुल विरुद्ध है; और उन्होंने इसके लिए किसी भी आगमिक साहित्य का आधार नहीं दिया है। उन्होंने स्पष्टतया बताया है कि अग्निकाय के जीव अप्काय यानी पानी के जीवों से भी अधिकतर स्थूल या बादर हैं। तब जल से अधिक सूक्ष्म वायु और वायु से भी अधिक सूक्ष्म ऐसे प्रकाश के कण (फोटोन) को अग्निकाय कैसे कहा जाए? यह एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है।

पुद्गल द्रव्य का एक और वर्गीकरण वर्गणाओं के रूप में है। वर्गणाओं के मुख्यतः आठ भेद बताये गये हैं : १. औदारिक, २. वैक्रियक, ३. आहारक, ४. तैजस्, ५. भाषिक, ६. श्वासोच्छ्वासिक, ७. मनस्, ८. कामर्ण। देव और नारक को छोड़ प्रत्येक जीव का भव-धारणीय शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों से निष्पन्न है। देव और नारक के शरीर वैक्रियक वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों से निष्पन्न हैं। आहारक लब्धिवान् चतुर्दशपूर्वधर साधु ही आहारक शरीर बनाने के लिए, आहारक वर्गणा का उपयोग करते हैं। प्रत्येक संसारी आत्मा प्रति समय तैजस् और कामर्ण रूप सूक्ष्म शरीर से युक्त है। भाषा-वर्गणा से आवाज (शब्द) पैदा होती



है । श्वासोच्छ्वास-वर्गणा का उपयोग श्वास लेने में किया जाता है । मन के निर्माण एवं विचार करने में मनोवर्गणा का उपयोग होता है ।

दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में बताये गये पुद्गल द्रव्य के विभागीकरण की बादर सूक्ष्म, बादर और बादर बादर श्रेणियाँ औदारिक वर्गणा में समाविष्ट होती हैं

यदि हम प्रकाश को सचित्त या तेउकाय मानें तो उसका समावेश बादर-बादर श्रेणी में करना होगा; किन्तु विज्ञान ने बताया है कि प्रकाश के कण ज्यादा सूक्ष्म हैं; अतः उन्हें तैजस् वर्गणा में समाविष्ट करना उपयुक्त है और तैजस् वर्गणा को अन्य वर्गणाओं के साथ सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्ग में रखने पर सब कुछ सही प्रतीत होता है । यहाँ ध्यान में रखें कि उपर्युक्त आठों वर्गणाओं के पुद्गल स्कन्ध उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मपरिणाम वाले हैं; अतः प्रकाश सचित्त नहीं है ऐसा मानना सही और तर्कसंगत लगता है ।

सेनप्रश्न में कहा है कि 'बिजली या दीपक आदि का प्रकाश होने पर, प्रतिक्रमण आदि क्रिया अतिचार-युक्त होती है अर्थात् सम्पूर्णतः निष्फल नहीं बन पाती' ।

इस वाक्य का भावार्थ मैं अपनी बुद्धि से इस प्रकार करता हूँ । प्रथम तो यह बात जगद्गुरु श्री हीरसूरीश्वरजी के पास से सुनी हुई है । ऐसा स्पष्टतया आ. श्री सेनसूरीश्वरजी ने बताया है । उनका अर्थ है कि उसी समय प्राप्त आगमिक और तपागच्छीय अन्य साहित्य में कहीं भी इस बात का सन्दर्भ उपलब्ध नहीं था ।

दूसरी बात यह कि उन्होंने इसी प्रश्न का उत्तर, आगमिक साहित्य या तपागच्छीय परम्परा के साहित्य में से देने की बजाय अपने से केवल २००-३०० वर्ष पूर्व बनाये गये खरतरगच्छीय 'सन्देह दोलावली प्रकरण' में से किया और कहा कि वहाँ ऐसा बताया गया है । इसका अर्थ यही हुआ कि खरतरगच्छ में से यह परम्परा तपागच्छ में आयी हुई है; किन्तु तपागच्छ की अपनी ऐसी कोई परम्परा नहीं थी ।

तीसरी बात यह कि प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में दीपक या बिजली आदि का प्रकाश, क्रिया करने वाले मनुष्य पर पड़ने से उसकी क्रिया अतिचार-युक्त बनती है । इसका कारण यह है कि रात्रि के अन्धकार में क्रिया करते समय कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता, ऐसे समय में यदि कहीं से प्रकाश आ जाए तो प्रथम तो ध्यानभंग होता है, चित्त विचलित हो उठता है; दूसरे यह कि प्रकाश के कारण सब वस्तुएँ स्पष्टतया दिखायी पड़ती हैं, इससे क्रिया करने में सुगमता रहती है, अतः क्रिया करने वाले के मन में प्रकाश की इच्छा जागती है, या दीपक या बिजली का प्रकाश हुआ अतः 'अच्छा हुआ' ऐसा भाव आ जाता है; अर्थात् प्रकाश करने या दीपक जलाने की क्रिया का अप्रकट अनुमोदन हो जाता है, जबकि क्रिया करने वाले साधु-साध्वी के लिए करना, कराना और इनका अनुमोदन करना तीनों का निषेध

है, अतः अनुमोदन करना भी उपयुक्त नहीं है। लगता है ऐसी परिस्थिति के कारण ही आ. श्री विजय हीरसूरिजी ने कहा होगा कि बिजली आदि के प्रकाश के कारण क्रिया अतिचारयुक्त होती है। यह हमारा अनुमान है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान की परिभाषा में तो प्रकाश एक विद्युत्-चुम्बकीय तरंग (इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक वेव्ह) मात्र है और वर्तमान में हमारे वायुमण्डल (एट-मॉस्फीयर) में कई प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। प्रत्येक तरंग, प्रकाश के वेग से अर्थात् ३,००,००० कि.मी. प्रति सेकंड के वेग से गति करती है, केवल उसकी कम्प-संख्या (फ्रीक्वेंसी) या तो बहुत ज्यादा होती है या बहुत कम। इसी कारण से प्रत्येक तरंग दृश्यमान नहीं होती है।

इस प्रकार वर्तमान पृथ्वी पर जीवन व्यतीत करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के शरीर पर नाना प्रकार की संख्यातीत विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें पड़ती हैं। यदि हम इन सबको सजीव मान लें तो फिर जीना ही मुश्किल हो जाएगा।

एक बात और है कि प्रत्येक सजीव पदार्थ अपनी शारीरिक और भौतिक क्षमतानुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नति-अनुसार, अपने शरीर में-से नियत प्रकार की, नियत कम्प-संख्यावाली तरंगें छोड़ता है और जिनकी कम्प-संख्या, तरंग-लम्बाई आदि उनकी मनःस्थितियों के (शान्ति, भय, क्रोध, उद्वेग, शोक इत्यादि) अनुसार बदलती रहती है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही विज्ञान की टेलीपथी नामक शाखा विकसित हुई है। पश्चिम में इसे ले कर कई खोजें हुई हैं। अनुसंधान अभी जारी है।

इस चर्चा का सार मात्र यह है कि प्रकाश के रूप में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें छोड़ना, अग्निकायिक जीव का लक्षण है; अतः सभी प्रकार के प्रकाश में जीव है, ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है।

इस सब का अर्थ यह नहीं है कि मैं साधु-समाज को दीपक के प्रकाश का उपयोग करने की छूट देता हूँ, या ऐसी छूट लेने के लिए मैंने यह लेख लिखा है; वस्तुतः साधु, या साध्वी स्वयं तो बत्ती नहीं जला सकते; किन्तु अन्य किसी के पास भी बत्ती जलाना उपयुक्त नहीं है और इससे भी बढ़ कर यदि कोई बत्ती जलाता हो या बुझाता हो तो उसे भी अच्छा नहीं मानना अर्थात् अनुमोदन करना भी उपयुक्त नहीं है। साथ ही उपाश्रय के निकटवर्ती किसी गृहस्थ के घर की जलायी हुई बत्ती या सड़क-पर-जलती नगरपालिका की बत्ती की सहायता से अपना कोई कार्य साधु न करे; क्योंकि ऐसा करने पर उसकी अनुमोदना हो जाती है। यद्यपि यह बत्ती साधु के लिए या साधु के कहने से नहीं की गयी तथापि उसके उपयोग (इस्तेमाल) से तो पाप लगता ही है, इसे प्रायः सभी मानते हैं; अतः ऐसी बत्ती का इस्तेमाल करने की छूट लेने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यहाँ तो केवल जैन आगम और विज्ञान के आधार पर 'प्रकाश सजीव है अथवा नहीं' इस प्रश्न के समाधान का एक विनम्र प्रयास किया गया है।

(सन्दर्भ : दशवैकालिक सूत्र, हरिभद्रीयवृत्ति; तत्त्वार्थसूत्र टीका, अध्याय-२, टीकाकार-सिद्धसेन गणि; आचारांग-टीका, शीलाङ्कचार्य; दशवैकालिक सूत्र, हरिभद्रीय वृत्ति; सेनप्रश्न; संदेह दोलावली प्रकरण; आचारांग टीका टेक्स्ट बक ऑफ क्वाण्टम मिकेनिकस, पी.एम. मैथ्युस, के. वेंकटेशन)। □

## जन-जन की आस्था से

दिनकर सोनवलकर

तुम्हारे चरणों पर बिखरीं  
फूलों की पँखुरियाँ ही  
बन जाती हैं  
मेरे शब्द

तुम्हारी ममतामयी-दृष्टि की  
करुणा से ही  
मिलता है  
शब्दों को अर्थ—

तुम्हारे चरणों-तले  
जलती हुई  
चन्दन-अगरबत्ती से  
मिलती है सुगन्ध—

हजार-हजार प्रणामों की  
समर्पित भावना के स्पर्श से  
मिलती है  
सार्थकता—

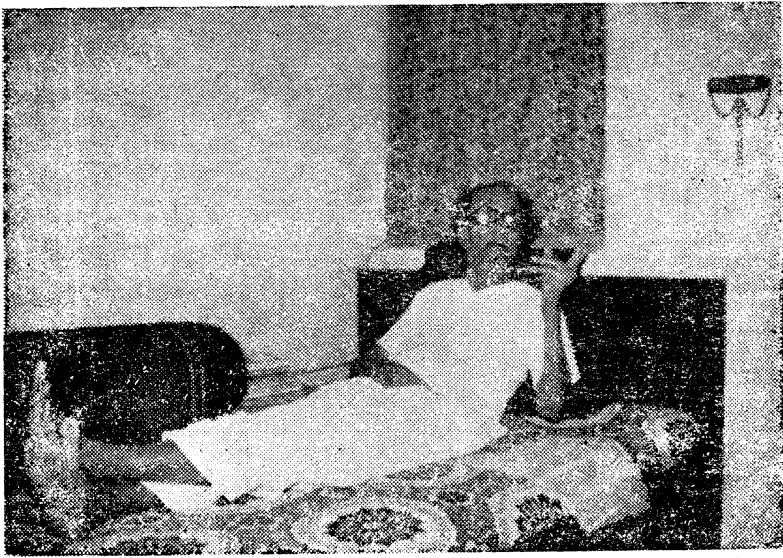
और  
जन-जन की आस्था से  
मिलती है ऊर्जा—  
लक्ष्य की दिशा में  
बढ़ने की  
एक कर्मठ व्यक्तित्व  
गढ़ने की ।

### ये स्वयं टेर लेते हैं

सुख ही  
सच्चे साथी मेरे—  
जब चाहूँ—तभी—  
ये सहज मिल जाते हैं  
और मेरे उदास नयन  
फूलों से खिल जाते हैं ।  
जब भी होता हूँ मायूस  
वे  
प्यार से पीठ थपथपाते हैं  
प्रेरक-आरोहों से  
उमंगें  
जगा जाते हैं ।  
होता हूँ अकेला  
तो  
ये स्वयं टेर लेते हैं  
मैं कितना ही  
छिपूँ/बचूँ  
समवेत घेर लेते हैं  
अन्तर के अँधियारे में  
सुर ही दीपक बाती मेरे  
सुर ही सच्चे साथी मेरे ।

□ □

तीर्थंकर : दिसम्बर ८८/२५



यह वही उपन्यास है, जिसे ले कर जैनाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने कहा था कि 'यह रामचरित मानस की तरह लोकप्रिय होगा'। आचार्य श्री तुलसी ने कहा था कि 'यह स्थायी मूल्य प्राप्त करेगा'। स्व. आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्द थे—'इस कृति का शामक प्रभाव और इसकी उदात्त स्थापना भूल नहीं सका हूँ। वीरेन्द्र ने इसमें अपने को बूँद-बूँद दे डाला है।' बच्चनजी ने इसे 'एक विशुद्ध आधुनिक महाकाव्य' माना। भवानीप्रसाद मिश्र ने इसे 'तरंगों-से-भरी समाधि का लेखन' निरूपित किया। हिन्दी 'विल्ट्ज़' के समीक्षक ने इसे 'पैगम्बरी उपन्यास' की संज्ञा दी। स्व. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इसके रचयिता को 'मनोविज्ञान का पण्डित और योगी' कहा और पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री ने इसमें 'जैन मान्यताओं का पग-पग पर दर्शन' किया।

वीरेन्द्रकुमार जैन के महाकाव्यात्मक उपन्यास  
'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' के  
अप्रकाशित पाँचवें खण्ड का पहला अध्याय—  
'महासत्ता में मृत्यु का अस्तित्व नहीं'

## महासत्ता में मृत्यु का अस्तित्व नहीं

ठीक इसी मुहूर्त में अनुत्तर योगी भगवान् महावीर राजगृही के गुणशील चैत्य में आ कर समवसरित हुए। श्रेष्ठी जयशतक ने महाशतक से कहा :

‘आयुष्यमान् बेटे, चलो त्रिलोकपति श्रीभगवान् के वन्दन को चलें।’

महाशतक अपनी वेदनन की मूर्च्छा में से चौंका। पहले तो शून्य ताकता रहा, फिर बोला :

‘उससे क्या होगा, बापू?’

‘यह भी कोई पूछने की बात है, बेटे। श्रीभगवान् तारनहार हैं। उनके दर्शन-मात्र से जीव दुःख से मुक्त हो जाता है। . . . .’

‘उनके पास मृत्यु का उत्तर है?’

‘मृत्युंजयी भगवान् के लिए यह प्रश्न उठता ही नहीं।’

महाशतक ने पिता का अनुसरण किया। समवसरण में श्री भगवान् के सम्मुख हो कर भी वह उनकी कैवल्य-प्रभा का दर्शन न पा सका। जैसे अन्धों को सूर्योदय नहीं दिखायी पड़ता। हठात् सुनायी पड़ा :

‘. . . . सबेरा हो गया, महाशतक ! देख, तू सूर्योदय के सम्मुख खड़ा है।’

महाशतक की तमसान्ध मूर्च्छा में सहसा ही एक स्पन्दन हुआ। . . . . लेकिन . . . . लेकिन . . . . कहीं कुछ नहीं सूझता। वह चारों ओर से मृत्यु के पारंवार अन्धकार से घिरा है। मृत्यु . . . . मृत्यु . . . .। हर चीज का अन्त है केवल मृत्यु। सृष्टि, संसार, यहाँ का सब कुछ है केवल मृत्यु। हम सब प्रतिक्षण मृत्यु में जी रहे हैं। और हमें इसका भान नहीं। जीवन का दूसरा नाम है, मृत्यु से पलायन की एक निरन्तर जारी कोशिश। भगवान्, धर्म, अध्यात्म, योग, कविता, कला, संगीत, नृत्य, सारे ज्ञान-विज्ञान, सारे सर्जन और पराक्रम, सारे विद्या-साधन, सत्य-शिव-सुन्दर, सारे आनन्द और भोग-विलास, मोक्ष का महापुरुषार्थ—यह सब कुछ मृत्यु से पलायन का एक निरन्तर जारी उपक्रम और आविष्कार मात्र है। प्रथम और अंतिम सत्य है केवल मृत्यु। एक अज्ञात अन्धकार में-से अपना, और फिर दूसरे अज्ञात अन्धकार में खो जाना। मृत्यु का कोई उत्तर नहीं, उपाय, नहीं, निराकरण नहीं। . . . . इस साक्षात् और नित्य वर्तमान मृत्यु में कोई कैसे और कब तक जिये ? हज़ारों-हज़ार भ्रमों और भुलावों में जी कर वह मृत्यु को कैसे झुलाये ? जीवन के सुन्दर आवरण में केवल मृत्यु पल रही है। हर सुन्दर चेहरे में, हर मोहक चितवन में केवल मृत्यु झाँक रही है। आज तक कोई योगीश्वर, कोई अर्हन्त, कोई अवतार मृत्यु को न तर पाया, न जीत पाया, उसका उत्तर न दे पाया। वे

सब सिखा गये हैं—केवल मृत्यु को भूले रहने के हजारों भ्रान्त उपाय । सब झूठ है, सब अपने आपको धोखा देने का एक और . . . एक और आविष्कार । . . .

. . . . इस सत्ताहीन शून्य के अँधेरे में मूर्च्छित महाशतक कहाँ जागे, कैसे जागे ? इस अभेद्य, निरन्त अन्धकार रात्रि का कहीं कोई कूल-किनारा है ही नहीं । . . . लेकिन इस क्षण यह कैसा स्पन्दन है । उसके भीतर के जड़ीभूत अन्धकार में यह कैसा प्रकम्पन है ? जैसे कहीं कोई वातायन खुलने वाला है । . . . नहीं, यह भी एक भ्रम है । नहीं, इस रात का सबेरा नहीं । हठात् फिर सुनायी पड़ा :

‘सबेरा हो गया, महाशतक ! देख, सामने सूर्योदय है । सदोदित सूर्योदय । यह सूर्य अस्त होना नहीं जानता । उदय और अस्त यहाँ गलबाँही डाल कर छड़े हैं । वे एक हो गये हैं । जीवन और मृत्यु का भेद यहाँ समाप्त हो गया है । . . . सब कुछ यहाँ ध्रुव है, सत् है, शाश्वत है । आँख खोल कर देख, महाशतक । . . .’

उस मुमूर्षा में-से नी महाशतक एकाएक चीख उठा :

‘कौन देखे ? मैं तो कोई नहीं, कहीं कोई नहीं । कहीं कुछ अस्ति नहीं, अस्तित्व नहीं । तो फिर मैं कैसे हो सकता हूँ, . . . मैं . . . मैं . . . मैं कौन हूँ, मुझे नहीं मालूम । केवल मृत्यु, शव, अरथी, श्मशान, चिता : सब कुछ जल कर राख हो रहा है । और कहीं कुछ दीखता नहीं । सर्वत्र है एक विराट श्मशान, एक महाचिता । मैं कोई नहीं । केवल एक प्रेत . . . जिसका कोई चेहरा नहीं, पहचान नहीं, अस्मिता नहीं । . . . तो फिर मैं कौन . . . मैं कौन ? मुझे नहीं मालूम . . . ।’

‘जो यह सब देख और कह रहा है, वह कौन है ?’

‘मैं नहीं जानता, भगवन् !’

‘जो यह कह रहा है, कि मैं नहीं जानता, वह कौन है ? यह जो जान रहा है, कि मैं नहीं जानता, वह कौन है, वत्स ?’

‘मैं . . . मैं . . . मैं . . . क्या जानूँ भगवन् !’

‘यह मैं . . . मैं . . . मैं . . . जो तू बोल रहा है, वह कौन है ?’

‘मैं . . . मैं . . . मैं . . . पता नहीं कौन ?’

‘तू बराबर ही बोल रहा है मैं . . . मैं . . . तो तू है ? न होता तो कौन कहता . . . मैं ।’

महाशतक एकाएक चौंका, जागा, आपे में आ कर वह थिर हो रहा । उसका चित्त अविचल, अनिश्चल हो गया । उसकी मुँदी आँखें और भी गहरी मुंद गयीं । वह किकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा है ।

‘आँख खोल, और देख महाशतक, तू कौन है !’

अनायास महाशतक ने आँखें खोल कर ऊपर देखा : गन्धकुटी के पद्मासन पर, और कोई नहीं, वह स्वयम् ही आसीन है। वह चमत्कृत और स्तब्ध ताकता ही रह गया : रक्तकमलासन पर बैठे अपने आप को। '..... मैं..... मैं..... वह कैसे हो सकता हूँ ? तो महावीर कौन है, वह कहाँ है ?'

'तू ही महावीर है, और महावीर ही तू है। तेरा मैं..... मैं..... मैं..... वही मैं हूँ, वही तू है। तत्त्वमसि, आयुष्यमन् !'

'नहीं..... नहीं..... ऐसा कैसे हो सकता है ? यह भी एक खूबसूरत इन्द्र-जाल है। एक और भ्रम, एक और जादूगरी ! तू मैं, और मैं तू कैसे हो सकता है ? क्या महावीर स्वयम् भी भ्रम में हैं ? क्या महावीर भी केवल एक और इन्द्रजालिक, एक और मायाचारी है ? मृत्यु-से-पलायन करने का एक और उपाय, एक और आविष्कार ! क्या अर्हत् महावीर भी केवल पलायन में ही जी रहे हैं ? एक दिन महावीर का यह भव्य दिव्य रूप, यह विराट् आकार भी मृत्यु का ग्रास हो कर, धूलमाटी में मिल जाएगा। फिर तुम मृत्युंजयी कैसे ?'

'तू रात-दिन मृत्यु में जी रहा है, सर्वत्र मृत्यु देख रहा है, फिर भी तू मरा नहीं, वत्स, अभी तक ?'

'एक दिन मर ही जाऊँगा, वही तो अन्त है हर होने का'।

'कौन मर जाएगा ?'

'मैं मर जाऊँगा !'

'तो तू अपने मरने को देख रहा है, भोग रहा है ?'

'मैं समझा नहीं, भगवन् !'

'तू जो प्रतिक्षण मृत्यु में जी रहा है, उसके भय और वेदना को भोग रहा है, वह कौन है ?'

'..... मैं..... मैं..... भगवन् !'

'तो भय, वेदना, मृत्यु को देखने, भोगने वाला तू - तेरा मैं - वह क्यों नहीं मर पा रहा है ?'

'यह मैं, जो यह सब भोगने-जानने को अभिशप्त हूँ, उसी के कायम रहने से तो मैं भयभीत हूँ, पीड़ित हूँ, मृत्यु-भय से आतंकित हूँ।'

'तो भय, वेदना और मृत्यु में भी तू मर नहीं पाता, बना रहता है, यही न ?'

'इसी कारण तो मृत्यु-भय है, भगवन्, कि मुझे अन्त तक उस मृत्यु का ज्ञाता और भोक्ता बने रहने की लाचारी है।'

‘तो मरने में भी, जीते ही चले जाना तेरी अतिवार्य नियति है, यही न?’  
‘वही तो, भन्ते !’

‘तो तू नहीं मरता, तू केवल उस मौत का द्रष्टा, ज्ञाता, भोक्ता, साक्षी होता है।’

‘.....हाँ, हाँ, देवार्य.....ऐसा ही कुछ।’

‘जब तू मर सकता ही नहीं, जीना तेरी लाचारी है, तो फिर भय किस बात का ? जब मरना तेरे वश में है, तो मृत्यु का अस्तित्व कहाँ ? तू नहीं मरता, तो फिर कौन मरता है ?’

‘देहान्त जो होता है, भगवन् ! आज की यह सुन्दर देह एक दिन नहीं नहीं रहेगी, सदा को लुप्त हो जाएगी। तो फिर मैं कौन, कहाँ रहूँगा ?’

‘प्राणान्त के समय जो भय होगा, अँधेरा होगा, मृत्यु घटित होगी, तो क्या उस सबको तू देखेगा, जानेगा, भोगेगा ?’

‘हाँ, भगवन्, वह मृत्यु-यत्रणा मुझे भोगनी होगी, इसी कारण तो मैं भयभीत हूँ दिन-रात।’

‘तो तेरा यह भय ही, तेरे कायम रहने, तेरे कभी न मर पाने का प्रमाण है। जब मृत्यु के साथ ही ‘मैं’ का अन्त है, तो फिर भय किसलिए ? और मृत्यु के साथ यदि ‘मैं’ का अन्त नहीं, तब तो भय का कारण ही नहीं ! जब अमर रहना ही मेरी एक मात्र नियति है, तो फिर मृत्यु-भय किसलिए ?’

‘लेकिन देह के कारण ही तो दृष्टि है, जगत् है; जीवन है, उसकी सारी ममता-माया है, सुख-भोग है। देह छूटने के साथ ही, इस सबसे बिछुड़ कर जाने किस महान्धकार में खो जाना होगा ?’

‘कौन खोयेगा, उस महान्धकार में ?’

‘मैं.....मैं.....भगवन् !’

‘तो वहाँ भी तू तो रहेगा ही ! और तू रहेगा, तो वियोग की व्यथा क्यों ? तेरा नित्य बने रहना, जीवन, जगत् इसके सुख-भोग, आनन्द और प्यार-प्रेम के बने रहने का प्रमाण है। तू स्वयम् अनन्त है, यह जीवन-जगत् भी अनन्त है। अहम् और इदम् शाश्वती में नित्य विद्यमान है। केवल बाहरी रूपाकार और पर्याय बदलती है। सब कुछ यहाँ का महासत्ता में नित्य-शाश्वत है।’

‘तो फिर मुझे भगवन्, मुझे मृत्यु-भय क्यों सताता है ?’

‘भय इसलिए है, कि यह चिर परिचित जगत्-जीवन यहीं छूट जाएगा। ये कितने सारे परिचित प्रिय चेहरे, आत्मीय-परिजन। यहाँ के संबन्धों की ऊष्मा, प्रकृति का विराट् सौन्दर्य, नित-नव्यमान सौन्दर्य, प्रेम-प्यार-अणव; काव्य, कलाएँ,



सर्जनाएँ, ज्ञान-विज्ञान की साधनाएँ, सम्भावनाएँ, पराक्रम, पुरुषार्थ, नव-नवीन रचना करने का एक गुलाबी उल्लास, देहों के प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गन—यह सब सदा के लिए छूट जाएगा। यह परिचित परिवेश, जाने कितने मोहक मुखड़े, चित्तवर्ने, भोजनों की सौधी सुगन्धों से महकती सन्ध्याएँ, सुखभोग की मुलायम रात्रि-शैथिल्याएँ, स्पर्श, रस, गन्ध, संगीत के सुख—ये सब यहीं पड़े रह जाएँगे। तुम फिर इनमें कभी न लौटोगे। तुम फिर अपने प्रिय-परिजन से कभी न मिलोगे—अनन्तकाल में ? तुम स्वयम् नहीं रहोगे, या जाने कहाँ रहोगे ? सारे परिचय, प्रेम, परिवेश का प्रलय, विलोपन ! एक अन्तहीन वियोग की वेदना ! . . . तुम इसी कारण मृत्यु से भयभीत हो न, महाशतक ? है कि नहीं ?

‘आप मेरी व्यथा को अणु-अणु में प्रत्यक्ष देख और कह रहे हैं, भगवन् !’

‘तो जान ले आयुष्यमान् कि तेरा यह भय केवल एक भ्रम है, अज्ञान के कारण है। तू और यह समस्त लोक, यह जीवन-जगत् सत्ता में नित्य विद्यमान और जारी है। केवल पर्याय बदलती है, पर्यायी नहीं बदलता। वस्तु और व्यक्ति दोनों ही अपनी सत्ता में ध्रुव हैं, केवल उनमें नये-नये रूपों का उदय और विलय होता रहता है। इस जगत् में सुन्दर चेहरे, मोहक आँखें सदा रहेंगी। यहाँ यौवन और तारुण्य सदा रहेगा। यहाँ प्रेम-प्यार आत्मीयता के संबन्ध सदा रहेंगे। यहाँ के सारे चुम्बन और प्रणयालिङ्गन सदा जारी रहेंगे—अनाद्यन्त काल में। कोई-न-कोई परिवेश और परिचय का जगत् सदा रहेगा। पदार्थों और प्राणियों के साथ तू सदा घर पर रहेगा। केवल पुराने रूपाकार लय पाते जाएँगे, नये रूपाकार प्रकट होते जाएँगे। मृत्यु या देहान्त भी इस बदलाव की एक गोपन अँधेरी सुरंग है। सुरंग के इस पार भी जीवन है, रोशनी है, उस पार भी जीवन है, रोशनी है। मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं। महासत्ता और महाजीवन की धारा में वह भी एक परिवर्तन की तरंग मात्र है। . . .’

‘आर-पार आलोकित हो रहा हूँ, भगवन् ! जीवन के सदावसन्त की बयार मुझे पुलकित कर रही है। . . . लेकिन प्रभु, वह शब्द, वह भयंकर मुर्दा, कफ़न, अस्थी, श्मशान-यात्रा, श्मशान, चिता, देखते-देखते एक व्यक्तित्व का जल कर खाक हो जाना। यह सब इतना भयानक, विषादजनक, शोकाकुल, निराशाजनक क्यों लगता है मुझे ? मैं हर क्षण एक महाश्मशान में जी रहा हूँ ! . . .’

‘ये सब कुछ एक प्रचलित, परिचित आकार-माया मात्र हैं। केवल संस्कार ! मृत्यु की अज्ञानजन्य भयानकता का प्रतिबिम्बन ! मृत्यु और वियोग को अगले नये मिलन के उत्सव के रूप में मनाने लगे, तो भय नहीं रहेगा; मृत्यु भी महाजीवन की एक तरंग-मात्र प्रतीत होगी। . . . तू पर्यायी में मत जी, पर्याय में जी ! तू

अकार में मत जी, आत्मा में जी । तू निःशंक और निद्वंद्व हो कर इस जीवन की हर लीला में तन्मय हो कर जी । भाव, अनुभूति, सम्बेदन, स्पर्शन, आस्वादन—सबमें अत्मभाव को जी । सर्व में अपनी आत्मा को ही भोग । जीवन के हर भोग-सम्भोग में केवल अपने आत्म का ही आस्वादन कर । तो पर्याय-परिवर्तन की पीड़ा तुझे नहीं व्यापेगी । तू विपल मात्र में हर भोग या प्रीति की भूत, भविष्यत्, वर्तमान अनन्त पर्यायों को एकाग्र भोगने-जीने की कला सीख जाएगा । भंगुर में भी अमर का ही आस्वादन करने लगेगा । अपने आत्म की अमरता को अनुभूत कर लेने पर तू भंगुरता में भी अमरता को प्रत्यक्ष देख लेगा ।

‘मैं अमृत में जाग रहा हूँ भगवन्, और भी प्रतिबुद्ध करें ।’

‘और तू जान देवानुप्रिय, कि सर्वज्ञ अहंत के केवलज्ञान में त्रिलोक और त्रिकाल के सारे रूपाकार, सारे सम्बेदन, सारे प्रियजन-परिजन, सारी आत्मीयताएँ, सारे प्रणयालिंगन, सारे ज्ञान-विज्ञान अनाहत भावेन नित्य विद्यमान और गतिमान हैं । वहाँ सब नित्य वर्तमान है । उसी नित्य वर्तमानता में जीने की कला-साधना कर, आयुष्यमान्, और तू सदेह अमृतानुभव कर लेगा । नश्वर दीखती देह में ही अवि-नश्वर का सुख भोगने में समर्थ हो जाएगा ।’

‘भंगुर, नाशवान काया की सीमा में वह कैसे सम्भव है, हे अमृतेश्वर प्रभु ?’

‘कायोत्सर्ग की महासमाधि में उतर जाना होगा । निरन्तर, अनुक्षण, आत्मलीन भाव से जीवन जीने की कला-साधना कर । निर्विकल्प, अनाहत धारा की तरह जीवन को तन्मयता से जीता जा । हर विषय में हर रस में—आत्म का ही आस्वादन कर । हर सुख में आत्म को ही भोग । तो आपोआप ही काया की कारा विसर्जित होती जाएगी : अन्तरिक्ष, जल, हवा, सुगन्ध, संगीत की तरह ही काया भी सहज प्रवाही, अव्याबाध, आत्मलीन होती जाएगी । तू स्वरूप में, स्व-ज्ञान में निश्चल हो जा आयुष्यमान्, और तू देह में जीते हुए भी, देह के सारे बन्धनों, सीमाओं, अवरोधों को भेद कर—सर्ववाही आकाश की तरह जीने का सुख पा जाएगा ।’

‘कायोत्सर्ग को कैसे उपलब्ध होऊँ, भगवन् !’

‘काया को भी अपने ही में विलीन कर ले, तो काया कहीं रह ही नहीं जाएगी । केवल तू—एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति—रह जाएगा ।’

‘और भी प्रतिबुद्ध करें, देवार्य ।’

‘केवल अपने मैं को पूर्णत्व में जी, उसके मूल में निश्चल हो कर जी ! निश्चय जान कि केवल एक तू है, केलाद्वितीयम् तू, और तब जो कुछ भी अन्य

है, पर है, वह सब केवल ज्ञान-मात्र हो रहेगा ! वह सब तेरे ज्ञान की निरन्तर सम्भोग-समाधि हो रहेगा ! . . . . लोकानन्द : समाधि-सुखम् । लोक को, हर पदार्थ को, प्राणी को समभ्रता में हर पल देखना, जानना, जीना - यही समाधि-सुख है ।

‘समय की धारा में, समयसार की सुगन्ध हो कर, बहो आत्मन् ! इसी को जिनेश्वरों ने सामयिक कहा है । स्वात्म में, स्व-धर्म में, स्व-समय में निश्चल हो कर, सर्व जगत्-व्यापार को अपने आत्मज्ञान में तरंगित देखो : एकाग्र समभाव से सर्व में, सर्वान्तर में, निरन्तर विचरण करो, खेलो ! . . . . सामायिक, सामायिक, सामायिक । कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग ! . . . .

‘अरे देख, काया का कर्दम आत्मा के कमल में उतफुल्ल हो उठा है । देख, अपने आपको देख, अपने भीतर देख . . . . क्या हो रहा है ?’

‘भगवन्, यह क्या हुआ ? मुझसे बाहर कहीं, कुछ नहीं रह गया । अब कहाँ जाऊँ ? जाने को बाहर कोई जगह बची ही नहीं ! . . . . मुझे अपने जैसा ही अवधूत, अनगार बना लें, भगवन् !’

नहीं, वह तुम्हारी नियति नहीं । आगार में रह कर ही, अनगारी भाव में तल्लीन रहो । संसार की धारा में बहते हुए ही संसार-सारम् का शाश्वत सुख-भोग करो । पहले काया को स्वीकारो, झेलो, उसे सहो ! उसकी सारी सीमा-बाधा को गला देने की सम्बेदक साधना करो । काम अपना फूलों का धनुष ताने, तुझे चुनौती दे रहा है । जा, उसका सामना कर । वही तेरी परम समाधि का द्वार बन जाएगा । जा वत्स, यथासुखं मा पडिबन्ध करेह ! जिसमें सुख लगे वही कर, कोई प्रतिबन्ध नहीं ! . . . .’

और महाशतक को लगा कि जैसे औचक ही किसी ने उसके गले में एक सर्पमाला डाल दी है । वह सर्प उसके हृदय पर फन फटकार रहा है । और उन दंशों और चोटों से वह अधिक-अधिक, आत्मलीन होता जा रहा है । □□□

## खोल और गिरी

. . . . लेकिन तब भी तुम समझ नहीं पाओगे; क्योंकि तुम बेहोश हो जाओगे । खोल और गिरी एक दिन अलग होंगे, लेकिन तुम बेहोश हो जाओगे । अगर समझना है (मृत्यु को) तो अभी खोल और गिरी को अलग करना सीखो । अभी, जिन्दा रहने में । अभी खोल (शरीर) और गिरी (चेतना, आत्मा) अलग हो जाएँ, तो मोत खत्म हो गयी । वह फासला पैदा होने से हम जानते हैं कि खोल अलग, गिरी अलग और खोल टूट जाएगी तो भी मैं बचूँगा, तो भी मेरे मिटने का कोई सवाल ही नहीं है । मृत्यु घटित होगी, तो भी मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकेगी, मेरे बाहर ही घटित होगी यानी वही मरेगा, जो मैं नहीं हूँ । जो मैं हूँ, वह बच जाएगा ।

—आचार्य रजनीश

## क्या हम इन हादसों की अनदेखी करें?

संपादकजी,

मैं मान रहा हूँ कि आपने १९८८ के उत्तरार्द्ध को बड़े ध्यान से देखा है। जुलाई से दिसम्बर तक के पाक्षिकों, साप्ताहिकों, तथा अनियतकालिकों में आपने कुछ सुखियाँ देखी होंगी। इन सुख समाचारों से किसी भी समाज का माथा शर्म से झुक सकता है; किन्तु तटस्थ देखें तो इनका एक सबक भी है कि हम समीक्षा करें उन वजहों की जो इन सुखियों की पृष्ठभूमि पर हैं। किसी भी घटना को बिना उसकी गहराई में उतरे यूँ ही गुजर जाने देना उचित नहीं है।

संपादकजी, इस समय मेरे सामने तीन अख़बारी कतरनें हैं—एक, 'चौथी दुनिया' दिल्ली (२७.११/३.१२ : 'देश दुनिया विशेष') जिसमें छपी दो सुखियों के शीर्षक हैं—'क्या जैन साध्वियाँ देवदासियों में बदली जा रही हैं?'—सुधेंद्रु पटेल। इस लेख के नीचे कई तथ्य उजागर हुए हैं। तेरापंथ के एक रवाज़ 'एकान्त सेवा' का उल्लेख भी हुआ है। एक पुस्तक का नाम भी आया है—'अणुव्रत आवरण की ओट में'। इसी पत्रे की दूसरी सुखी है : 'काम विकृतियाँ और आचार्य तुलसी'। इसमें भी कई-कई बातें कही गयी हैं और कई महत्त्व के मुद्दे उठाये गये हैं। दूसरी क्लिपिंग (कतरन) 'सरिता/जुलाई (द्वितीय)/ १९८८ की है, और तीसरी है अनियतकालिक—'हे-प्रभु ! यह-तेरा-पंथ'/हावड़ा (१५वीं-१६वीं/संयुक्त क्रिष्ण)।

'चौथी दुनिया' की कतरन के आरम्भ में एक फोटोग्राफ छपा है, जिसे दिगम्बर जैनाचार्य सुधर्मसागरजी का कहा गया है। यदि यह फोटोग्राफ अरेंज्ड (दो तस्वीरों से बनायी गयी तस्वीर) है तो कोई बात नहीं; किन्तु यदि यह एक जीती-जागती हकीकत है तो गहन चिन्ता का विषय है। जो लोग फोटोग्राफी के क़रिश्मे जानते हैं वे बता सकते हैं कि प्रकाशित फोटोग्राफ तैयार किया गया है (यानी चिपकनों से बना है) या वास्तविक है। दिगम्बर जैन समाज को—उसके नेताओं को—चाहिये कि वे तुरन्त क़दम उठायें और इस घटना को अगंभीर न मानें। इस सिलसिले में एक जाँच बिठायी जाए जो मामले की गहन छानबीन करे। यदि अख़बारों में इस तरह की घटनाएँ लगातार प्रकाशित हुईं और उनके बारे में कोई ख़लासा नहीं दिया गया तो आम आदमी इस बात को मान लेगा कि दिगम्बर जैन साधु की एक छवि यह भी है और तब फिर वह उनके प्रति हकारत से देखेगा और नग्नता के पीछे जो जीवन-दर्शन है वह ख़तरे में पड़ जाएगा। संपादकजी, मेरा मानना है कि यदि हालात इसी तरह गहराये तो फिर मुनियों का विहार कठिन हो जाएगा और जैन समाज पर कल्पनातीत संकट छा जाएगा।

न सिर्फ सुधर्मसागरजी को ले कर इस तरह की खबरें छपी हैं, वरन् इससे पहले कुछ और दिगम्बर मुनियों को ले कर भी शिथिलाचार की खबरें प्रकाश में आयी हैं, जिनके तर्कसंगत समाधान जैन-जैनतर समाज को आज तक नहीं दिये जा सके हैं। ऐसी कोई सरल/लघु किताब भी नहीं है जो दिगम्बर जैन आचार्य या साधु के बारे में विस्तृत जानकारी देती हो। स्थिति काफी गंभीर और चिन्तनीय है। क्या उत्सवों और जीर्णोद्धारों, तीर्थ-वन्दना-रथों और आपसी सिर-फुड़ौव्वल में फँसा दिगम्बर जैन समाज अपनी साधु-संस्था पर इस तरह के क्रूर बरपा होने देगा और मध्यकाल की स्थिति में लौट जाना पसंद करेगा? ख्याल रहे मध्यकाल दिगम्बर साधुओं के लिए अंधायुग था। तब यह संस्था लुप्तप्रायः हुई थी। वजहें चाहे जो हों; किन्तु आज अपकीर्ति और पुनः लोप की स्थिति उत्पन्न हुई है इस ऐतिहासिक सचाई से मुँह मोड़ना संभव नहीं है।

इधर तेरापंथ और आचार्य श्रीतुलसीजी को ले कर भी कई खबरें प्रकाश में आयी हैं; किन्तु संपादकजी, इस सिलसिले में संघ की ओर से न तो कोई अधिकृत स्पष्टीकरण सामने आया है और न ही पत्रकारों को ऐसा कोई अवसर दिया गया है कि वे हकीकत जानें और रहस्य पर से पर्दा उठावें। मेरे पास जो खूतत और साहित्य आया है, संपादकजी, हो सकता है इकतरफा हो, किन्तु उनमें/उसमें कोई 'पिनपाइंट' सचाई न हो यह असंभव है। क्या तेरापंथ के श्रावकों और खुद आचार्यजी का यह दायित्व नहीं है कि वे इस संबन्ध में कोई अधिकृत पत्रकार-बैठक न्यौतें और अपनी स्थिति स्पष्ट करें? कई बार चुप्पी का अर्थ स्वीकृति भी होता है (न सही संपूर्ण, अर्द्धस्वीकृति (हाफ कंसेंट) तो होता ही है)। ऐसी विषम स्थिति में संपादकजी, उन लोगों के मन में संदेह उत्पन्न होता है, जो तेरापंथ के हितैषी रहे हैं और उसके व्यापक कार्यक्रमों में आस्था रखते आये हैं। क्या तेरापंथ का यह कर्तव्य नहीं है कि वह पूरे एक दशक से चले आ रहे इस अस्वच्छ वातावरण को समाप्त करे ताकि जैनतरों/पंथेतरों के मन में उसके प्रति स्वच्छता की एक नयी सुबह हो और उसके स्वयं के कार्यक्रमों को नयी शक्ति मिले? हमारा तो यह विनम्र सुझाव है संपादकजी, फिर तेरापंथ के रूढ़ ढाँचे में उसकी क्या शकल बनती है, कहा नहीं जा सकता। कई बार किसी संघ के आचार्य तो ठीक होते हैं; किन्तु उसका सामाजिक नेतृत्व आचार्य की रचनारमक दृष्टि को गड़बड़ा देता है, और कई बार सामाजिक नेतृत्व स्वस्थ होता है किन्तु आचार्य उसके स्वास्थ्य को असंतुलित कर देते हैं। यहाँ मामला क्या है, कुछ कहा नहीं जा सकता; किन्तु इतना जरूर है कि जो बीमारी घर कर गयी है, उसका कोई स्पष्ट निदान और कारगर इलाज अवश्य किया जाना चाहिये।

'काम विकृतियाँ और आचार्य तुलसी' जैसा शीर्षक दो व्यतिरेकी अस्तित्वों का

सौमिंटिंग है। जैनाचार्य या जैन साधु के साथ असंयमवाची शब्द का जुड़ना, या उसका जोड़ा जाना बहुत खतरनाक है। किसी भी जैन साधु का मूलधन उसका संयम माना गया है। वह इसी की साधना के लिए साधु-दीक्षा ग्रहण करता है। यदि वही टूटती है तो फिर शायद कुछ बच ही नहीं रहता। हमारा विनम्र निवेदन है संपादकजी, कि कोई ऐसी जाँच समिति (अखिल भारतीय स्तर पर) अवश्य गठित की जाए जो जैन साध्वाचार की एक निश्चित अवधि में समीक्षा करे और एक विस्तृत रपट दे। समिति समस्याओं पर तो विचार करे ही, समाधान भी सुझाये।

जैन साध्वियों को देवदासियों का संबोधन देना अत्यन्त अपमानजनक है; किन्तु हमारे सामने इन्दौर का 'इन्दु-साध्वी-काण्ड' भी तो है—इसका क्या हो? कई-कई ऐसी घटनाएँ इस साल के उत्तरार्द्ध में हुई हैं, जिनका जिक्र करना अनुचित है; किन्तु यह सत्य है कि दिगम्बरों/श्वेताम्बरों को अपने भीतरी विवादों को भूल कर सबमें पहले अपने-अपने निजी सामाजिक ढाँचों को निर्मल बनाने का सुनियोजित कार्यक्रम बनाना चाहिये। संपादकजी, मेरे पास ऐसी कई सूचनाएँ हैं, जिनमें श्रावकों को साधु-साध्वियों के शिथिलाचार को रफा-दफा करने के लिए एड़ी-से-चोटी-तक पसीमा बहाना पड़ा है।

इन्दौर में ही एक साधुश्री को समलैंगिक व्यभिचार के लिए रंगे हाथों पकड़ा गया था और उन्हें रातोंरात साधुत्व-से-हटाकर बिदा कर दिया गया था। कुछ समझदार श्रावकों ने मामले पर इतनी गहरी काली स्याही उँड़ेली कि फिर उसके हर्फ़ कहीं नहीं दिखायी दिये। इतने पर भी एक स्थानीय दैनिक ने इस घटना का ब्यौरा छापा। क्या हम इस तरह के हादसों की अनदेखी करते जाएँगे और इन्हें 'मल्टीप्लाई' होने देंगे?

इसी तरह का एक लेख 'सरिता' (जुलाई; द्वितीय; १९८८ पृ. ३५-३८) में छपा है। शीर्षक है—'जैन संन्यास : जीवन-शून्य जीवन'। लेखक हैं मुनि सुमन कुमार। यद्यपि इस लेख के खिलाफ़ बेहद दबी जुबान में कुछ जैन पत्र-पत्रिकाओं ने आवाज उठायी थी; किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ जिसे सशक्त और प्रभावी कहा जाए; न ही ऐसी कोई 'मिनी पोथी' आयी जो जैन साधुओं के व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन के बारे में सही और संपूर्ण जानकारी देती हो। संपादकजी, तवारीख के इस क्षण में जहाँ हमें बेहद सजगता और पूरी सावधानी से अपने कदम रखने चाहिये, हम लड़खड़ा गये हैं और पहले से अधिक असावधान और बेखबर हो गये हैं। सच मानिये, कि इस बिन्दु पर यदि हमने कोई चूक की तो उसके खतरनाक नतीजे ये होंगे कि हमारा सामाजिक ढाँचा तार-तार हो जाएगा और हमारी साधु-संस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

इन तमाम घटनाओं ने हमारे सामने प्रश्नों की एक लड़ी ही खड़ी कर दी (बाकी पेज ४५ पर)

तनाव से आगे की नाव?

आचार्य विद्यासागर मुनि कवि हैं, मनीषी हैं, परिभू हैं, स्वयंभू हैं। उन्होंने अपनी पाँच अनुपम काव्य-कृतियों में स्वयं को जी कर देखा है। जिसे जैन दर्शन भेदविज्ञान कहता है, उसकी काव्य में क्या शकल हो सकती है, इसे मनीषी कवि ने आत्मसंवेदन-के-तल पर शब्द की तमाम पतों से गुज़र कर देखा है। शब्द की अनुलोम और विलोम शक्तियों का तो वह कुवेर ही है। कोई शब्द उसकी चेतना-के-सिंह-द्वार पर क्वणित-गुंजित हुए बिना नहीं लौट सका है। 'नर्मदा का नरम कंकर'; 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'; 'तोता क्यों रोता'; 'चेतना के गहराव में'; और 'मूक माटी' उसकी अजर-अमर-कालजयी कृतियाँ हैं।

समीक्ष्य कृति में ७७ काव्य (कविताएँ कहना था, संख्या ७५ दी गयी है) हैं। इसे प्रतिनिधि संकलन कहा गया है (है नहीं)। बजाय 'प्रतिनिधि' कहने के इसे 'निधि' संकलन कहा जाना था। प्रतिनिधि कहने पर दायित्व सहज ही बढ़ जाता है (चयन के प्रतिमान स्पष्ट नहीं हैं); निधि तो आचार्य विद्यासागरजी की तमाम कविताएँ हैं ही। छाँटना उन्हें कठिन ही है, छाँटा जा सका और इस तरह की एक चयनिका अस्तित्व में आयी — यह अदभुत ही कुछ हुआ है।

व्यानवे पेजी इस काव्य-संकलन के पाँच खण्ड हैं : प्रकृति की गोद से (१४), लहराती लहरें (६), चेतना के गहराव में (२७), चेहरे के आलेख (१५) और जीने की विद्या (१५)। निश्चय ही आकलित कविताएँ आत्मसंवेदक हैं। कुछेक तो इतनी मर्मस्पर्शनी हैं कि इन्हें यदि रद्दी-से-रद्दी कागज़ पर भी छपा गया होता तो भी लोग ढूँढ़-ढूँढ़ कर पढ़ते। रेखांकनों ने यद्यपि चौकाया है, तदपि उनकी विषय-वस्तु से कोई स्पष्ट संगति नहीं है। प्रस्तुतीकरण इतना दीन-दरिद्र है कि एक पाठक को इतना मूल्य-चुका-कर जितना मिलना चाहिये, उतना मिल नहीं पाता है। क्या एक दिगम्बर जैनाचार्य के काव्य-संकलन को इतने महँगे परिधान जरूरी हुए थे? एक अनम्बर कवि की कविताओं को यदि दिगम्बर ही रहने दिया गया होता तो संभवतः प्रभावान्विति सौगुना अधिक होती। भौंडे और भीमाकार रेखांकनों के कारण संकलन की गरिमा तो कम हुई ही है, पाठक के मन पर भी अनावश्यक बोझ आया है। हमें इतने महँगे प्रकाशनों की जगह अल्पमोली प्रकाशनों की ओर क्रम उठाने चाहिये ताकि हम उस सामान्य-जन-के-द्वार-तक कविता को ले जा सकें

१. चेतना के गहराव में; आचार्य विद्यासागर मुनि; ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी, जबलपुर-३; मूल्य-साठ रुपये; पृष्ठ ६२; १६८८।

जो युग-युगों से इसकी प्रतीक्षा में है। एक लोक-संपूज्य आचार्य की यह छवि उसकी लोक-पूज्यता को समृद्ध करने की अपेक्षा उसे अक्षत बनाये रख पाने तक में विफल हुई है। हमें आशा करना चाहिये कि आगे चल कर विद्यासागरजी-जैसे परम पूज्य जैनाचार्य की मनीषा को सादगी, सरलता और लोकांचलिक सहजता में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न होगा। 'खून की खूबी' (पृ. ७) — "आग का योग पाता है जब/ शीतल जल भी /धीमे-धीमे/जलता-जलता . . . /उबलता भले ही/किन्तु वह/घघकती आग को/बुझा भी सकता है/किन्तु/मानव का खून/तुरन्त/खूब उबलता है/कुछ ही प्रतिकूलता में/काबू में नहीं आता/दूसरों को शान्त बनाना तो दूर/शान्त माहौल भी/ खौलने लगता है/ज्वालामुखी-सम।" और 'तुम कैसे पागल हो' (पृ. २७) — "रेत-रेतिल से नहीं/रे! तिल से/तेल निकल सकता है/निकलता ही है/विधिवत् निकालने से/ . . . अन्यथा/अहित पन्थ के पथिक/कैसे बने रहे हो तुम ! /निज को तज/जड़ का मंथन करते हो/तुम कैसे पागल हो ? /तुम कैसे पाग लहो।" जैसी सहज-सुंदर कविताएँ भली इस महँगे संकलन में-से कौन पढ़ पायेगा ? आधुनिकता के आनावश्यक उद्देलन में हमें वस्तुतः वह नहीं करना है, जो अपव्यय और भौंडेपन की कोटि में आता है। रंग, आकृति, विषय-वस्तु, कागज़, मूल्य, सर्जक, पाठक इत्यादि का ध्यान रखे बिना हम ऐसा शायद ही कुछ कर पायेंगे जो सामयिक होने के साथ ही जैन दर्शन की एक समानुपातिक छवि प्रस्तुत करता हो।

### क्षणभंगुरता से गहन संवाद<sup>२</sup>

धर के दो दशकों में दो अविस्मरणीय कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं : एक, 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' (चार खण्ड/१९७४-१९८१/वीरेन्द्र कुमार जैन) तथा दो, 'मूक माटी' (आचार्य विद्यासागर मुनि/१९८८)। इन्हें हम क्रमशः 'महा-काव्यात्मक उपन्यास' और 'उपन्यासात्मक महाकाव्य' कह सकते हैं।

'मूक माटी' के विद्वान् प्रस्तवन-लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इसे 'आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि' और 'आधुनिक जीवन का एक अभिनव शास्त्र' निरूपित किया है। उनके उद्धरण-बहुल 'प्रस्तवन' में-से यह पता लगाना कठिन है कि मिसरी-की-डली कहाँ से और कितनी मीठी है। उसकी मिठास सर्वत्र व्याप्त है।

'मूक माटी' को मूक तो कह दिया है; किन्तु आत्मा के शाश्वत संगीत में

२. मूक माटी; आचार्य विद्यासागर; भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३; मूल्य पचास रुपये, पृष्ठ-२४+४४८; १९८८।



निमग्न कवि ने माटी को एक पल को भी मूक नहीं रहने दिया है। माटी की अनिर्वचनीयता पग-पग पर खुद-ब-खुद निर्वचन बनी है और उसने कई चिरन्तन उलझनों को पलक-मारते हल किया है। मनीषी कवि ने न सिर्फ शब्द को चटखा कर उसके भीतर कारावासित अर्थ को उन्मुक्त किया है वरन् उसे नवार्थ/अभिनवार्थ देने में भी वह सफल हुआ है। शब्द को अर्थ देना एक सामान्य घटना है; किन्तु अर्थ को चेतना की गहराइयों से जोड़ कर उसे पुनः अर्थवान् और प्रासंगिक करना किसी मनीषी का काम ही हो सकता है। शब्द को उसकी आर्थी निरम्बरता में पाना और उसमें अपनी परिशुद्ध मेधा-के-पात्र को अन्तिम तल तक ले पहुँचना परम पुरुषार्थ का विषय है—किसी सामान्य मनीषा के बिरते की बात वह नहीं है।

कवि ने माटी की चिरन्तन भंगुरता को प्रतीक के रूप में चुना है (असल में 'मूक माटी' एक भेद-वैज्ञानिक रूपक है) और उसकी युगयुगान्तर की पीड़ा को अक्षरशः समझने का सीधा-सघन प्रयत्न किया है। 'बिन्दु-बिन्दु-घट' की शैली में कवि ने तमाम विस्तृतियों को वर्णबद्ध कर लिया है।

'मूक माटी' अर्थात् क्षण से एक विलक्षण/अनवरत डायलाग — किसी योगी के लिए ही संभव था। बहुत कम शब्दों में, हम कहेंगे कि 'मूक माटी' की भाषा 'समाधि भाषा' है, जिसके भीतर पैठने के लिए पाठक को भी समाधि में उतरने की आवश्यकता है।

कवि प्रयोगधर्मी है। उसने शैली और भाषा दोनों ही तल पर कई अपूर्व प्रयोग किये हैं। कवि को वर्ण की विलोम/विपर्यय शक्ति का गहन बोध है। वर्ण-विनोद में-से वर्ण की आवृत शक्तियों को अनावृत करने की जो क्षमता विद्यासागर मुनि में है, वह अन्यो में नहीं है (नहीं मिलती)। 'खरा' में-से 'राख', 'राही' में-से 'हीरा', 'याद' में-से 'दया', 'लाभ' में-से 'भला' ऐसे ही उदाहरण हैं। वर्ण-विच्छेद में-से भी कवि ने अर्थ-छवियों की सफल खोज की है। 'सारेगम' में-से 'सारे गम', 'पागल हो' में-से 'पाग लहो', 'रस्सी' में-से 'रस-सी', 'रितिल' में-से 'रे तिल' इसी तरह के उदाहरण हैं। वर्ण-क्रीड़ा में-से हो कर अर्थ की गहराइयों में अवगाहन और वहाँ से पाठक को एक अमोघ आध्यात्मिक रसास्वाद विद्यासागर जैसे महान् रस-वेत्ता के लिए ही संभव था। विलोमशक्ति के तो वे विशेषज्ञ ही हैं—यों उन्हें भाषा तक कभी नहीं जाना पड़ा है, भाषा ही उन तक आयी है। वस्तुतः जिसके पास कथ्य होता है, उसके निकट कथन की तमाम विधाएँ खुद दौड़ी आती हैं। 'मूक माटी' में वही हुआ है, यानी वर्ण-वैभव में-से अर्थ-गौरव के कई दुर्लभ क्षण पल-भर में प्रत्यक्ष हुए हैं। असल में क्षर में-से अक्षर के तलातल ढूँढ़ निकालने का नाम ही विद्यासागर है।

‘मूक माटी’ के प्राण-पृष्ठ हैं ३९७-३९९, जिनमें कवि ने ‘अ इ उ ऋ लृ’ की तरह ‘श स ष’ की अमोघ शक्ति को स्पष्ट किया है। उसके शब्द हैं—“इस पर भी यदि/औषध की बात पूछते हो,/सुन लो !/तात्कालिक/तन-विषयक-रोग ही क्या,/चिरन्तन चेतन-गत रोग भी/जो/जनन-जरन-मरण रूप है/नव-दो-ग्यारह हो जाता है पल में,/शं, स, ष/ये तीन बीजाक्षर हैं/इनसे ही फूलता-फलता है वह/आरोग्य का विशालकाय वृक्ष !/इनके उच्चारण के समय/पूरी शक्ति लगा कर/श्वास को भीतर ग्रहण करना है/और/ नासिका से निकालना है/ओंकार ध्वनि के रूप में।/यह शकार-तय/ ही/स्वयं अपना परिचय दे रहा है कि/‘श’ यानी/कषाय का शमन करने वाला/ शंकर का द्योतक, शंकातीत, शाश्वत शान्ति की शाला . . . !/ ‘स’ यानी/समग्र का साथी/जिसमें समष्टि समाती,/संसार का विलोम-रूप/सहज सुख का साधन/समता का अजस्र स्रोत . . .’/और/‘ष’ की लीला निराली है। ‘प’ के पेट को फाड़ने पर/‘ष’ का दर्शन होता है—/‘प’ यानी/पाप और पुण्य/जिनका परिणाम संसार है,/जिसमें भ्रमित हो पुरुष भटकता है/इसीलिए जो।/पुण्यापुण्य के पेट को फाड़ता है/‘ष’ होता है कर्मातीत।/यह हुआ भीतरी आयाम,/अब बाहरी . . . भी . . . सुनो !/भूत की माँ भू है,/भविष्य की माँ भी भू।/भाव की माँ भू है है,/प्रभाव की माँ भी भू।/भावना की माँ भू है,/संभावना की माँ भी भू।/भवानी की माँ भू है,/भूधर की माँ भू है,/भूचर की माँ भी भू।/भूख की माँ भू है,/भूमिका की माँ भी भू।/भव की माँ भू है,/वैभव की माँ भी भू,/और स्वयम्भू की माँ भी भू।/तीन काल में/तीन भुवन में/सबकी भूमिका भू।/भू के सिवा कुछ दिखता नहीं/भू . . . भू . . . भू . . . भू . . . / . . . /यत्-तत्-सर्वत्/भू।/‘भू सत्तायां’ कहा है ना/कोषकारों ने युग के अथ में!”

जहाँ तक ‘मूक माटी’ से सूक्तियों की उद्धरणी का प्रश्न है, वह आसान काम नहीं है। . . . असल में इस कृति के तीन संस्करण होने थे : एक, ‘राज संस्करण’ (यह है ही); दो, ‘मञ्जौला संस्करण’ (जिसका मूल्य आधा होता और जिसमें इसके चुने हुए अंश आकलित होते); तीन, ‘मूक माटीसार संस्करण’; जो पेरबक-में, एक-तिहाई, कीमत-दस-रुपये, संपूर्ण-का-सार, सामान्य-पाठक-तक-पढ़ने-में-समर्थ; होता। हमें विश्वास है ‘भाज्ञापि’ अथवा ‘ज्ञाप्र’ इस काम को यथाशीघ्र संपन्न करेंगे।

—नेमीचन्द्र

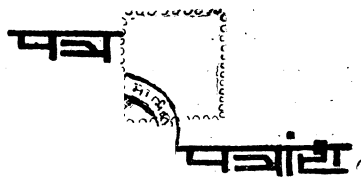
## रोचक एवं तथ्यपूर्ण

'तीर्थकर' जब भी मिलता है, समय निकाल कर रचिपूर्वक पढ़ता है। खासकर 'संपादकीय' एवं 'प्रलयंकर' के लेख मनोयोग से पढ़ना पड़ता है। मन के बाद तन की चुनौती विशेष मार्मिक लगी। तनु, देह, शरीर और काया जैसे एकार्थक पर्यायों की अलग-अलग अर्थ-विवेचना बड़ी ही रोचक एवं तथ्यपूर्ण है। इसमें अर्थ-गांभीर्य के साथ ही कलात्मकता भी है। आनु-प्रासिक शब्दों का चयन गद्य में भी पद्य का लालित्य ले आया है। देह में से देही, आकृति में से आकृत, क्षणभंगुर में से अमर और क्षर में से अक्षर की खबर अगर हम नहीं पा सकते हैं, तो सचमुच हम निरक्षर हैं। कविवर श्री कन्हैयालाल सेठिया ने भी क्षर, अक्षर और निरक्षर को ले कर एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। इस अंक का 'संपादकीय' भी विचारणीय है। मैं संपादकीय के भावों की गूढ़ता को समझ रहा हूँ, किन्तु सोचता हूँ, काश ! हम अपनी समझदारी को वफादारी के साथ निभा पाते, अपनी बूजुर्गी के तल पर बचपन को नहीं भुलाते, बच्चों की जैसी सरलता/सहजता को भी बरकरार रख पाते।

—नथमल लूणिया, पटना

### कोई संदेह नहीं

'तीर्थकर' का अक्टूबर, ८८ का अंक पूरा पढ़ कर संतोष का अनुभव हुआ। 'कैसे पढ़ें जिनागम ?' — श्री जयन्ती जैन का यह लेख सामयिक लगा। प्रात्यक्षिक तौर पर कुछ अंश ले कर विविध पहलू से वह कैसे पढ़ा जा सकता है या उस वक्त किन बातों का मनन किया जा सकता है, ये बातें भविष्य में जयन्ती भाई बतायेंगे, तो पाठकों को अच्छा मार्गदर्शन मिलेगा। 'मेरी भावना' तो हमारे लिए अलौकिक रचना है। यह संप्रदायातीत प्रार्थना है।



हर छन्द के लिए जड़ियाजी के रेखाचित्र बड़ी समझ-बूझ रखते हैं। 'मेरी भावना' में धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों का निचोड़ है।

'तीर्थकर' की अथक दौड़ जारी है। हम कहाँ तक उसका साथ दे सकते हैं, इस पर भविष्य निर्भर है।

'समय' (त्रैमासिक) का प्रवेशांक भी जैसा आपने चाहा, वैसा ही रहा। 'तीर्थकर' के माँफिक वह भी समाजोन्नति का एक आदर्श माध्यम बनेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।—प्रा. प. ब. भंडारी, सोलापुर

### विशिष्टता लिये हुए

'तीर्थकर' का प्रत्येक अंक अपने आप में अनूठा दिखायी देता है। वह विशिष्टता लिये हुए होता है। अक्टूबर, '८८ के अंक में 'मेरी भावना : गहरे उतारों इसे चित्त में' के माध्यम से आपने प्रसिद्ध 'मेरी भावना' रचना का परिचय देते हुए जीवन में उपयोगिता को बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है। 'मेरी भावना' के प्रत्येक छंद के साथ चित्रात्मक (प्रतीक चित्र) योग देने से पाठक को उसकी भावना को समझने में बड़ी सरलता होती है। आशा है, आगामी अंकों में इसी प्रकार की अन्य रचनाओं को चित्रात्मक रूप से प्रकट करने का प्रयास किया जाएगा। 'कहावतों में जैन और जैनत्व' के द्वारा प्रबुद्ध लेखक ने जैनत्व के मूल सिद्धान्तों की ओर ध्यान आकृष्ट कर जैन समाज की बड़ी सेवा की है।

—देवेन्द्रकुमार कोचर, बिरलाग्राम (नागदा)

## शालीनता फिर भी अखण्डित

‘तीर्थंकर’ के जुलाई अंक में संपादकीय ‘खालीपन का एहसास’ के अन्तर्गत जैनों के सामाजिक/धार्मिक सभा-संस्थाओं की कुसियों के भरे या खाली होने का रोचक विश्लेषण आपने जिस गणित से किया है; सचमुच वह अनूठा, अद्भुत और अचूक है। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसे गणित का प्रयोग आप-जैसा अकुतोभय संपादक/लेखक ही कर सकता है। मजे की बात तो यह है कि इसमें आपकी भाषायी शालीनता कहीं भी खण्डित नहीं हो पायी है। क्या ही अच्छा हो, यदि जैन समाज के नेता एवं कार्यकर्ता सामाजिक सभा-संस्थाओं की पवित्र कुसियों को निष्कपट इरादे से भरने के अपने दायित्व को समझ कर उसका निर्वाह करें और छल-बल, एवं दंभ का सहारा न ले कर समाज और धर्म की सेवा का सच्चा व्रत लें।

—मूलचन्द्र पाटनी, बम्बई

## ‘तीर्थंकर’ का काम जगाने का

‘एक क्रमदम : एकदम’ (संपादकीय, मई ८८), सारी मानवता को मुंह चिढ़ाता भालचन्द्र जानी का लेख, ‘प्रलयंकर’ का तीखा खत, डॉ. निजामउद्दीन/डॉ. कमलेश के विश्लेषक कथ्य सभी सोद्देश्य हैं। प्रतीत होता है कि हम सब नींद-लेते लोग हैं, जिन्हें जगाने का काम तीर्थंकर का है।

—भोतीलाल जैन, कटनी

## उच्च कोटि की पत्रिका

‘समय’ (त्रैमासिक) के सभी लेख अच्छे लगे; विशेषकर ‘सनाम महावीर’...। यह एक उच्चकोटि की पत्रिका है। वास्तव में भारत में विशेषतः जैन समाज के लिए ऐसी पत्रिका की आवश्यकता थी, जिसकी आपने पूर्ति की है।

—सुखलाल लिखमावत, भीण्डर

## एक व्यवस्थित योजना बनायें

‘तीर्थंकर’ के नवम्बर ८८ के अंक में श्री प्रलयंकर की जैन पाठशालाओं के लिए एक दीर्घकालिक समन्वित नीति अपनाने का सुझाव महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से बड़ी संस्थाओं को एक व्यवस्थित योजना क्रियान्वित करने की पहल करनी चाहिये।

—राजेन्द्रकुमार जैन, विदिशा

## प्रत्येक अंक : एक विशेष अंक

‘तीर्थंकर’ पत्रिका की इन्तजारी बराबर बनी रहती है और यथासमय प्राप्त भी हो जाया करती है। इधर कोई नया विशेषांक काफी दिनों से नहीं मिला; फिर भी ‘तीर्थंकर’ का प्रत्येक अंक एक विशेष अंक की तरह ही है। जैन पत्र-पत्रिकाओं में यह अपना एक अलग ही स्थान रखती है। आजकल प्रायः पत्रिकाएँ कुष्ठक को छोड़कर पन्थवाद को लेकर ही किसी तरह चल रही हैं, पर ‘तीर्थंकर’ में ऐसा कुछ नहीं लगा अभी तक। अतः मैं आशा करता हूँ कि यह निष्पक्ष पत्रिका तेजी से प्रगति की ओर बढ़े और हम पाठकों को कुछ मार्गदर्शन मिलता रहे।—कल्याणमल झाझिरी, कलकत्ता

## आजीवन सदस्य

१०७९. पन्थासथ्री शीलचन्द्रविजयजी,  
द्वारा : श्री अतुल एच. कापडिया  
श्री एच. बी. के. न्यू हाईस्कूल  
हठी भाई नी वाडी सामे  
दिल्ली दरवाजा बाहर  
अहमदाबाद-३८०००१ (गुज.)
१०८०. श्री अध्यक्ष महोदय,  
श्री दिगम्बर जैन मारवाड़ी  
मन्दिर ट्रस्ट  
२० शक्कर बाजार  
इन्वौर-४५२००२ (म. प्र.)

**कलकत्ता ।** श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के हीरक जयन्ती समारोह का आयोजन २४ दिसम्बर, ८८ को किया गया है। इसके पूर्व श्री जैन विद्यालय के छात्रों द्वारा आयोजित कला एवं विज्ञान प्रदर्शनी का उद्घाटन २१ दिसम्बर को है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में विद्विषयीय (२५, २६, २७ दिसम्बर) संगोष्ठी का शुभारम्भ २४ दिसम्बर को हीरक जयन्ती के मुख्य समारोह में हो रहा है। 'हीरक जयन्ती स्मारिका', 'बंगाल में जैनधर्म' (गणेश ललवानी), श्री गणेश ललवानी द्वारा बांग्ला में अनूदित 'अण्डा : जहर-ही-जहर' (डॉ. नेमोचन्द जैन) को हीरक जयन्ती समारोह में लोकार्पित किया जा रहा है।

**बम्बई ।** श्री महावीर जैन विद्यालय, दम्बई के तत्त्वावधान में दसवाँ जैन मानवता समारोह बौत्तर जिनालय, कच्छ (गुजरात) में संपन्न हुआ, जिसमें जैन दर्शन, शोध, कला, साहित्य आदि से संबन्धित २५ निबन्ध प्रस्तुत किये गये।

**नई दिल्ली ।** 'अध्यात्म और विज्ञान दोनों का लक्ष्य सत्य की खोज है। मानवता के कल्याण के लिए दोनों का समन्वय जरूरी है।'-ये उद्गार राष्ट्रपति श्री आर. वेंकट रमण ने गत ८ दिसम्बर को राष्ट्रपति भवन में उस समय व्यक्त किये, जब उन्हें आचार्य श्री तुलसी के ७५ वें वर्ष के उपलक्ष्य में मनाये जा रहे योगक्षेम वर्ष की जानकारी मुनिश्री राकेशकुमार ने दी।

**कोथली (कर्नाटक) ।** आचार्य श्री विद्यानन्दजी सहित १५ त्यागीजन और ५० अन्य महानुभावों ने दस दिवसीय प्रेक्षाध्यान शिविर में भाग लिया।

**अजमेर ।** श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर के तत्त्वावधान

में सीमंधर जिनालय वेदी शिलान्यास समारोह १८ नवम्बर को संपन्न हुआ।

**खुरई (म.प्र.) ।** ८४ वें वर्ष-प्रवेश पर पं. कमलकुमार जी.शास्त्री 'कुमुद' का नागरिक अभिनन्दन गत १ दिसम्बर, '८८ को किया गया। प्रभात भ्रमण मंडल, खुरई द्वारा उन्हें अभिनन्दन पत्र भी भेंट किया गया। पं. कमलकुमारजी ने इस अवसर पर भेंट की राशि में से रु. ११०० श्मसान घाट समिति को दे दिये और निजी पुस्तकालय की ५००० से अधिक पुस्तकें स्थानीय शिशु मंदिर, २००० धार्मिक पुस्तकें प्राचीन जैन मंदिर और ४५० पुस्तकें पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल को भेंट कर दीं।

**कलकत्ता ।** पश्चिम बंग प्राकृतिक चिकित्सा परिषद् के तत्त्वावधान में सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री धर्मचन्द सरावगी के ८४ वें जन्म-दिवस (१७ नवम्बर '८८) के उपलक्ष्य में कलकत्ता में एक भावभीना समारोह संपन्न हुआ।

**जयपुर ।** 'जैन पथ प्रदर्शक' ने इस वर्ष भी जैनाध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंदकुंद को अपनी साहित्यिक श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु 'समयसार विशेषांक' प्रकाशित करने का निर्णय लिया है।

**दिल्ली ।** विगत एक दशक से निर्मित हो रहे 'विजय वल्लभ स्मारक' एवं भगवान् वासुपूज्य जिनालय का अंजन शलाका प्रतिष्ठा महोत्सव जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र दिक्ष सूरीश्वर के सन्निध्य में आगामी २ फरवरी '८९ को संपन्न होने जा रहा है। इस अवसर पर 'प्रतिष्ठा महोत्सव स्मारिका' भी प्रकाशित की जा रही है।

बोकानेर । वर्ष १९८८ के लिए स्व. श्री प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य-पुरस्कार (रु. ११०००/-) हेतु जैनधर्म, दर्शन से संबन्धित सृजनात्मक मौलिक ग्रन्थ आमंत्रित हैं, जिनमें काव्य, कथा (कहानी, उपन्यास), नाटक, एकांकी, रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाएँ सम्मिलित हैं । इसी प्रकार स्व. श्री चम्पालाल साहू स्मृति साहित्य-पुरस्कार (रु. ५,१००/-) हेतु जैन विद्या से संबन्धित किसी भी उपाधि-सापेक्ष एवं उपाधि-निरपेक्ष लिखित शोध-प्रबन्ध, शोध-समीक्षा और संपादित ग्रन्थ भी आमंत्रित हैं ।

इन दोनों प्रतियोगिताओं में कोई भी विद्वान् भाग ले सकता है । ग्रन्थ हिन्दी में होना आवश्यक है । ग्रन्थ विगत ५ वर्षों की अवधि में प्रकाशित होना चाहिये अर्थात् १ जनवरी, १९७३ से पूर्व प्रकाशित नहीं होना चाहिये । पाण्डुलिपि के संबन्ध में अवधि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । प्रतियोगिता हेतु मुद्रित ग्रन्थ की ४ प्रतियाँ और पाण्डुलिपि की ३ प्रतियाँ निःशुल्क भेजी जानी चाहिये । निर्णय के पश्चात् पाण्डुलिपि की २ प्रतियाँ लेखक को सुरक्षित लौटा दी जाएँगी । पुस्तकें भेजने की अन्तिम तिथि ३१ मार्च, १९८९ है । प्रतियोगी विद्वानों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे अपना ग्रन्थ स्वयं की कृति होने तथा उसके मौलिक होने का प्रमाण-पत्र ग्रन्थ के साथ ही भेजें । वे दोनों पुरस्कारों के लिए अपनी रचनाएँ भेज सकते हैं । ग्रन्थ भेजने का पता है : श्री अखिल भारत-वर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, पो. बोकानेर (राज.)-३३४००१ ।

—क्षत्रियकुण्ड-लछुवाड़ । खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि ने अपने पैतृसर्वे जन्म-दिन पर कहा है कि हमारा जीवन तभी सार्थक है जब हम प्रतिपल जागृत रहें और पणोकार महामन्त्र का जाप करें ।

सतना । जागरूक संगठनों की प्रतिनिधि-संस्था जैन क्लब परिसंघ सतना के सातवें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर व्यंकट भवन रीवा में एक विशेष डाक-टिकट प्रदर्शनी सुधीर जैन सतना द्वारा लगायी गयी, जिसका नाम था 'टिकटों-पर-जैनधर्म' । प्रदर्शनी में श्री सुधीर जैन एवं अशोक जैन सतना एवं कुमारी पूनम जैन पटना के बहुत महत्त्वपूर्ण संग्रह प्रदर्शित किये गये । इन टिकटों तथा प्रथम दिवसीय आवरणों पर जैनधर्म और उससे संबन्धित वन्य प्राणी संरक्षण, शाकाहार आदि विषय भी थे । परिसंघ-अध्यक्ष श्री निर्मल जैन ने प्रदर्शनी का विधिवत अनावरण किया और सुधीर जैन ने दर्शकों को प्रदर्शित सामग्री की उपयोगी जानकारी दी । श्री राजकुमार जैन ने कार्यक्रम का संचालन किया ।

जयपुर । इन्दौर में डॉ. नरेन्द्र भानावत के निर्देशन और उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि के सान्निध्य में अ.भा. जैन विद्वत् परिषद् ने एक धार्मिक शिक्षण-परीक्षण संगोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें 'डिप्लोमा-इन-जैनोलॉजी' के पाठ्यक्रम पर विचार किया गया ।

निपाणी । कर्नाटक राज्य के बेलगाँव जिले के निपाणी में भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर चतुर्मुख जिन बिम्ब पंचकल्याणक मानस्तंभ प्रतिष्ठा महोत्सव १४ से २० दिसम्बर, ८८ को संपन्न हो रहा है ।

क्षत्रीकुण्ड (बिहार) । भगवान् महावीर के जन्म कल्याणक की पावन भूमि क्षत्रीकुण्ड (बिहार) में स्थानीय आदिवासी बालकों के शिक्षण के लिए वर्धमान महावीर प्राथमिक विद्यालय की स्थापना गत २१ नवम्बर '८८ को जैन महिला समिति, कलकत्ता द्वारा की गयी है, जिसका उद्घाटन जैनाचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि ने किया ।

(पेज ३६ का शेष)

है। प्रश्न हैं: क्या समाज को इन तमाम घटनाओं की ओर से आँखें मूँद लेनी चाहिये? क्या दूसरा समाज इस चुप्पी को गलत नहीं समझेगा? क्या जिन साधुओं और आचार्यों के संबन्ध में लेख आदि छपे हैं उनके बारे में जैन नेतृत्व को चिन्तित नहीं होना चाहिये? क्या कोई ऐसा मोनोग्राफ प्रकाशित नहीं किया जाना चाहिये जो जैन साधुओं के व्यक्तित्व को स्पष्ट करता हो और उनके जीवन-दर्शन की प्रामाणिक/अधिकृत जानकारी देता हो? क्या बदले हुए जीवन-संदर्भों में जैन साध्वचार को पुनः फँट कर उसे प्रासंगिक बनाने की आवश्यकता हम महसूस नहीं कर रहे हैं? क्या हम श्रावकों की उस मनोदशा की समीक्षा नहीं करना चाहेंगे जो एक-दूसरे को बदनाम करने पर आमादा है? संपादकजी, हमें विश्वास करना चाहिये कि हमारी इस दुर्दशा पर दूसरे आँसू बहायें इससे पहले हमारी आँखें खुलेंगी और हम बिगड़ैल घोड़े की लगाम अपने हाथ में ले लेंगे।

—प्रलयंकर

(आवरण ३ का शेष)

जिसके पाँवों में चंचलता की बेड़ियाँ पड़ी हैं, उसे क़ैद-की-लाचारी के अलावा और क्या मिल सकता है?

माया का वजूद अद्भुत है। वह मिलती है तो आदमी पल-भर में कुछ-का-कुछ हो पड़ता है। उसकी आँखों पर लोभ का चश्मा चढ़ जाता है। वह दोनों हाथों से बटोरने लगता है। उसकी तृषा बढ़ जाती है और वह उस अबुझ को शान्त करने में लग जाता है। सब जानते हैं लोभ-की-ज्वाला का बुझना कभी संभव ही नहीं है। जैसे-जैसे लाभ होता है; लोभ अधिक भभकने-भड़कने लगता है। लोभ बढ़ता है, आदमियत घटती है। लोभ और मनुष्यता साथ नहीं चल सकते। इस तरह ये चारों हमें अपने लक्ष्य को न तो निर्धारित करने देते हैं और न ही नियोजित होने देते हैं। संयोगवश लक्ष्य कभी सुनिश्चित हो भी गया तो ये उस पर अधिक देर टिका नहीं रहने देते। चंचलता-अस्थिरता आज के युग की सबमें करारी चुनौती है, जिसे हम आत्म-समीक्षा और आत्म-विश्वास के बल पर जीत सकते हैं।

याद रखें कि चंचल हो कर हम कुछ पा नहीं सकते और अचंचल हो कर वह सब-सारा पा सकते हैं, जिसकी खोज में हम जन्म-जन्मान्तर से हैं। जो छोटे-मोटे लोभ-लालच में पड़-फँस जाता है, वह अपने बुनियादी लक्ष्य से चूक जाता है; इसलिए वक्त-का-पारखी न तो कभी किसी झाँस में आता है और न ही अपनी गाँठ-के-बहुमूल्य क्षणों को बर्बाद करता है।

वह एक-एक पल की महत्ता को जानता है और उसका भरपूर/पराकाष्ठा तक उपयोग करता है।

—प्रलयंकर

# नये प्रकाशन

## मूकमाटी (महाकाव्य)

रचयिता - आचार्य विद्यासागर

धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म के सार को आज की भाषा एवं मुक्त छन्द की मनोरम काव्य-शैली में निबद्ध कर शास्त्र-रचना को नया आयाम देने वाली एक अनुपम कृति। कृतिकार हैं—परम तपस्वी, सन्तकवि आचार्यश्री विद्यासागर।

आचार्यश्री की प्रतिभा का यह चमत्कार है कि माटी जैसी निरीह, पद-दलित, व्यथित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर उसकी मूक वेदना और मुक्ति की आकांक्षा को वाणी दी है। कुम्भकार शिल्पी ने मिट्टी की ध्रुव और भव्य सत्ता को पहचान कर, कूट-छान कर, वर्ण-संकर कंकर को हटा कर उसे निर्मल मृदुता का वर्णलाभ दिया है। फिर चाक पर चढ़ाकर, आवे में तपाकर उसे ऐसी मंजिल पर पहुँचाया है जहाँ वह पूजा का मंगल-घट बनकर जीवन की सार्थकता पाती है। कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंजिलों की मुक्ति-यात्रा का रूपक है यह महाकाव्य। व्यक्तिगत स्वाध्याय तथा पर्व आदि अवसरों पर सामूहिक पारायण-प्रवचन के लिए उपयोगी अभिनव-शास्त्र।

आचार्यश्री की भूमिका, उनका भव्य रंगीन चित्र, अनेक रेखांकन तथा आकर्षक साज-सज्जा के साथ। पृष्ठ ५००, मूल मात्र ५०/- रुपये। पर्व पर १०% से लेकर राशि के अनुपात से थोक खरीद पर अधिकतम ३०% तक की विशेष छूट।

## भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ

भाग-५ (कर्नाटक)

जैन तीर्थ ग्रन्थमाला का यह भाग शताब्दियों से जन-जन की श्रद्धा को संपुष्ट करने वाले, कर्नाटक के विश्व-प्रसिद्ध जैन तीर्थों, ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक जैन स्थलों तथा जैन-संस्कृति और कला की चमत्कारपूर्ण उपलब्धियों से सम्बन्धित है। विभिन्न मन्दिर-मूर्तियों तथा कलावशेषों के ११२ चित्रों से सम्पन्न। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, हीराबाग, बम्बई-४ द्वारा (भारतीय ज्ञानपीठ के सहयोग से) प्रकाशित। मूल्य मात्र ६०/-; पर्व पर विशेष छूट मात्र १०%

ग्रन्थमाला के पूर्व प्रकाशित चारों भागों में क्रमशः (१) उत्तर प्रदेश, (२) बिहार-बंगाल-उड़ीसा, (३) मध्य-प्रदेश तथा (४) राजस्थान-महाराष्ट्र के जैन तीर्थों का वर्णन है। प्रत्येक भाग का मूल्य मात्र ३०/- रु.। चारों भागों का मूल्य लागत से बहुत कम होने से विशेष छूट संभव नहीं है।



# नये संस्करण

## आदिपुराण भाग १, २

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा भरत-बाहुबली के पुण्य-चरित के साथ भारतीय संस्कृति, विशेषकर जैन संस्कृति के इतिहास को प्रस्तुत करने वाली अद्वितीय कृति । पुराण-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण निधि आचार्य जिनसेन कृत महापुराण के दोनों भाग—आदिपुराण भाग-१,२; मूल संस्कृत, हिन्दी अनुवाद, महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना तथा अनेक परिशिष्टों के साथ नये संस्करण के रूप में प्रकाशित ।

मूल्य : प्रथम भाग-१००/-, द्वितीय भाग-७५/- इसका अन्तिम भाग, आचार्य गुणभद्र कृत 'उत्तरपुराण' मुद्रणाधीन है ।

### पट्टदेवी शान्तला

दक्षिण भारत के होयसल राजवंश के महाराजा विष्णुवर्धन को जैन धर्म-परायणा, संयमशील, पटरानी शान्तला को केन्द्र में रखकर लिखा गया एक ऐसा सशक्त एवं रोचक विशाल उपन्यास जिसमें राजवंश की तीन पीढ़ियों की कथा देश और समाज के समूचे जीवन-परिवेश की पृष्ठभूमि में प्रतिबिम्बित है। 'मूर्ति-देवी साहित्य पुरस्कार' से सम्मानितया लेखक सी.के. नागराजराव । भाग एक ४८/-, भाग दो ५५/-, भाग तीन ५५/-, भाग चार ६०/-

### गोमटेश गाथा (उपन्यास)

श्रवणबेलगोल (कर्नाटक) में विन्ध्यगिरि पर स्थित ५७ फुट उत्तुंग गोमटेश्वर बाहुबली की विश्ववन्द्य विशाल मूर्ति के प्रतिष्ठापना-इतिहास को रूपायित करने वाली एक सशक्त, श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है यह 'गोमटेश गाथा' । श्रवणबेलगोल का, वहाँ के चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि का सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव कवि-हृदय की सहज आत्मानुभूति के विविध रंगां से रंजित हो कर समुज्ज्वल और जीवन्त हो उठा है । चक्रवर्ती भरत और अप्रतिम वीर बाहुबली की पौराणिक कथा को इस कृति में जो मनीवैज्ञानिक आधार मिला है, वह निश्चय ही लेखक की साहित्यिक प्रतिभा का एक सुन्दर निदर्शन है ।

उपन्यास के शिल्प में ढली हुई इस कृति का एक-एक अध्याय चिन्तन की गरिमा, कल्पना की परिष्कृति और शैली की मोहकता के कारण अद्भुत बन पड़ा है । मान लें कि यह रचना भी गुल्लिकाय फल का एक लघुपात्र है, जिसमें भावना और भक्ति का सागर हिलोरें ले रहा है ।

प्रस्तुत है इस महान कृति का यह द्वितीय संस्करण । लेखक : नीरज जैन  
मूल्य-४८/-

मूर्तिदेवी ग्रंथामाला-प्रकाशनों की विस्तृत सूची अलग से उपलब्ध । पत्र लिख कर आज ही मगायें ।

## भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-११० ००३



**S. Kumars**®

A Trusted Name in

**'TERENE' & 'TERENE' BLENDED  
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES**

Phone : 29 84 32 / 31 58 33

Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026

Telex : 011-2952

*Registered Office :*

**S. KUMAR**

**"NIRANJAN"**

**99, Marine Drive, BOMBAY-400 002**

अन्तहीन होता है। जिसका न तो कोई प्रस्थान-बिन्दु है और न ही कोई पहुँच-बिन्दु भला उस दुलमुल को क्या उपलब्ध हो सकता है।

निश्चय के साथ विश्वास और अनिश्चय के साथ अविश्वास जुड़े हुए हैं। जो रंग बदलता है, गिरगिट है, उस पर भरोसा मुश्किल है; किन्तु जो अटल है, अपने वचन पर, अपने लक्ष्य पर उसकी बात ही कुछ और है। क्या आपने कभी ऐसी कोई ट्रेन देखी है, जिसके स्टेशन अनिश्चित हों? क्या आपने दुनिया के ऐसे किसी अस्तित्व का पता लगाया है, जिसका कोई लक्ष्य ही न हो? स्वयं चंचलता का भी अपना कोई लक्ष्य है। लक्ष्य के बिना कोई अस्तित्व इस लोक में नहीं है।

किन्तु हमने लक्ष्यहीनता के अभिशाप के बीच बने रह कर कभी यह पता नहीं लगाया कि ऐसे कौन-से कारण हैं, जो हमें लक्ष्य तय करने में बाधित करते हैं और हम जो करना चाहते हैं, वह करने नहीं देते। क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे प्रेत हैं, जो हमें अपना अभिप्रेत नहीं करने देते। हम जो चाहते हैं, या जहाँ हम अपना पाँव टिकाना चाहते हैं, वहाँ ठीक से टिका नहीं पाते।

क्रोध का अंधड़ जब आता है तब भीतर से पिछली सारी पूंजी समेट ले जाता है। क्रोध जब आदमी को लूटता है तब फिर उसके पास तन-मन-धन कुछ भी बच नहीं रहता।

वह झपट्टे से आता है और कौड़ी-कौड़ी झपट कर ले भागता है। अहंकार की अपनी कथा है। वह; चूहा, जिस तरह चिन्दी पा कर बजाज बन बैठता है, लगभग ऐसा ही कुछ है। बिन्दु-भर पा कर जो सिन्धु-जितना गर्व करता है वह अपना पग किसी लक्ष्य पर टिका नहीं पाता।

थोड़ा पा कर फूला-फूला फिरने वाला अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में काफी पछताता है और जिसे बहुत मिला है वह उसे दोनों हाथों से उलीच कर कृतकृत्य हो जाता है। जो संपत्ति, रूप, शौर्य आदि की क्षणभंगुरता को जानता है वह इन पर कभी दर्प नहीं करता; बल्कि मौका आने पर इनका परोपकार में उपयोग करता है। वह जानता है : जो उसकी गाँठ में है, उसमें मौत की गाँठ पड़ी हुई है। जो आज है वह कल नहीं है; जो कल था वह आज/इस क्षण कहाँ है?

जो काल-क्री-चंचलता को जानता है, वह अपने अचंचल लक्ष्य पर अविचल बनता है और अपने आध्यात्मिक वैभव का अतवरत अनुसंधान करता है।

## प्रेत के दिए : रेत के टीले

- मूर्ख मनुष्य काँच को सिर से बाँधता है और हीरे को पैरों में डालता है । वह नहीं जानता कि मणि क्या है और काँच क्या है ? वैसे ही अज्ञानी आत्मा मिथ्या वासनाओं में ही मग्न रहता है, उन्हें ही पकड़ने को दौड़ता है, उन्हीं को अपना सर्वस्व मानता है — वह नहीं जानता कि सत्य कहाँ है ?
- संसार में जिस तरह जौहरी हीरे की परख जानता है, उसी तरह ज्ञानी-की-आँख ही सत्य को पहचानती है, अज्ञानी की नहीं ।
- जो जहाँ का रहने वाला है, वही वहाँ का भेद जानता है । जिसका जैसा स्वाँग होता है, वह वैसा ही नाचता है ।
- अज्ञानी अज्ञान में मग्न रहता है और ज्ञानी ज्ञान-की-रोशनी में निरखता और उपलब्ध करता है ।
- ज्ञान न तो अनेक तरह के भेषों में है, न गुरुता में; न वह यंत्र में है, न मंत्र में और न तंत्र में । ज्ञान में भी ज्ञान नहीं है और न ही वह अन्यत्र है । जिसके घट में आत्मज्ञान है, बस वही ज्ञान का असली स्वामी है ।
- ज्ञान ग्रन्थों में नहीं है, काव्य-कौशल में नहीं है, वह भेष, गुरुता, यंत्र, मंत्र, ग्रन्थ और काव्य-कला से परे है; चेतना उसकी निशानी है ।
- जीभ चिकनाई को तो ग्रहण करती है; किन्तु वह स्वयं रूखी/रूख रहती है । पानी में पड़ा सोना काँई से अलग रहता है ।
- ज्ञानी मनुज अनेक सांसारिक क्रियाओं को करता हुआ भी उनसे भिन्न रहता है; वह क्रियाओं में नहीं डूबता, अतः निष्कलंक बना रहता है ।
- परमार्थी वह है जिसकी सद्बुद्धि गुणों को पकड़ने के लिए चिमटी के समान है और खोटी कथाओं को सुनने के लिए जिसके दोनों कान पूरी तरह बंद हैं ।
- कमल दिन-रात पंक/कीच में ही रहता है और पंकज कहलाता है; किन्तु वह कीचड़ से सदैव अलग रहता है ।
- इस ध्रुव सत्य को जानो कि संसारी प्राणी मनुष्य का रूप धारण कर संसार में घ्रमण करते हैं । वे क्षण में बुझ जाने वाले प्रेत-के-दिए और रेत-के-टीले हैं ।
- आत्म-रस और आत्म-रसिक कहने-सुनने को दो हैं; किन्तु जिस क्षण समाधि प्रकट होती है, तत्क्षण दोनों में कोई द्विविधा नहीं रहती । दोनों एक हो जाते हैं ।

— कविवर बनारसीबास